(क) खल और अनधिकारी श्रोता

जिसे श्रवण करने की रुचि हो वह श्रोता वा पाठक जिज्ञासु होता है। उसका हंस जैसा लक्ष्य रहता है—गुण लेना और अवगुण छोड़ देना। दूसरे वर्ग के लोग अजिज्ञासु होते हैं। इस दूसरे वर्ग में से कुछ तो ऐसे होते हैं कि इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया। उन्हें न गुण से मतलब न अवगुण से। उन्हें न शंका न विश्वास। इसलिए उन्हें उदासीन कह सकते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जिनका उद्देश्य केवल ठट्ठा-मजाक उड़ाने का रहता है। उनकी शंकाएँ या प्रश्न ऐसे रहते हैं मानो बिना पेंदी के लोटा हों। ऐसे ही लोगों को तुलसी ने 'खल' कहा है। इन लोगों की उपेक्षा करने से ही लाभ होता है। उनसे माथा-पच्ची करने की अपेक्षा चुप ही रहना अच्छा, क्योंकि बकवाद करने से व्यर्थ समय नष्ट होता है और शक्ति क्षीण होती है। यदि वक्ता के कथित विषय में तथ्य रहता है तो, एक ओर तो कुछ दिनों के बाद वे अपने आप ठंडे पड़ जाते हैं, और दूसरी ओर उस विषय की महत्ता उत्तरोत्तर प्रकाशित होती जाती है। यही कारण है कि तुलसी ने हाथ जोड़ उनकी बंदना कर ली और कह दिया—

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥
हंसहिं बक दादुर चातकहिं। हंसहिं मलिन खल विमल बतकही॥[२९]

उदासीन और खलों के अतिरिक्त अरुचिवाले वर्ग में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जिनका रुझान या ध्यान वक्ता के विषय में न रहकर उसके विपरीत गुणवाले विषयों में लगा रहता है। चूँकि इन लोगों का मन दूसरी जगह रखा रहता है इसलिए वे वक्ता के विषय को न अच्छी तरह सुनते और न समझने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने इस मूल दोष से मुक्त होने की चिन्ता तो नहीं करते बल्कि उसे अन्तस्थ में लपेटे रखने की हठ-सी पकड़े रहते हैं, और यदि कोई विद्वान् (द्विज) उनसे उसे त्यागने के लिये कहे तो

---

२९. मानस बा० कां० ८।२

वे उसे अपना वैरी-सा समझने लगते हैं। इन लोगों को रामकथा के अनधिकारी कहा जाय तो ठीक ही होगा। तुलसी ने उन्हें 'द्विजद्रोही हठशील, शठ' कहा है। इनकी भी शंकाएं बेतुकी-बेसिर पैर की होती हैं। इसलिए उनसे भी उलझकर समय और शक्ति बरबाद करना व्यर्थ है। रामकथा के भावों को वही समझ सकते हैं जो विषय-लम्पट नहीं होते। विषय मनुष्य के बड़े बैरी कहे जाते हैं। गीता ने केवल एक मूल वैरी 'काम' (Desire) को ही पकड़ लिया है, और चूँकि 'क्रोध' 'काम' से ही उत्पन्न होता है, इसलिये काम और क्रोध दोनों को एक रूप 'काम एष क्रोध एष. . .वैरिणम्,'[३०] कहकर वैरी कहा है। इसी काम से 'लोभ' और 'मद' की भी उत्पत्ति होती है। इसलिए कहीं-कहीं काम, क्रोध, लोभ और मद इन चारों का उल्लेख पाते हैं। परन्तु तुलसी ने इस प्रसंग में केवल काम, क्रोध और लोभ का ही उल्लेख किया है, और कहा है कि ऐसे लोगों को जो इन वैरियों के पंजों में जकड़े हों, जो उन्हें छोड़ने को तैयार न हों तथा जो विद्वान् (द्विज) सलाहकारों से द्रोह करने वाले हों वे शठता को प्राप्त होते हैं। अतः उन्हें भी कोई अधिकार नहीं कि वे रामकथा को सुनें और अंट-संट तीतुर-बटेर सी शंकाएँ करते फिरें। यह कहा है तुलसी ने उनके विषय में—

यह न कहिअ सठ ही हठ सीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥[३१]

इससे हमें प्रतीत होता है कि तुलसी के मन्तव्य में मानस के अरुचि वाले खल और अनधिकारी श्रोता वा पाठक उपेक्षणीय हैं। उनके प्रति यही नियम हर जगह बरता भी जाता है।

---

३०. गीता ३।३७

३१. मानस उ० कां० १२७।३–५

(ख) अधिकारी श्रोता, उनके लक्षण और वर्ग

अब हम रुचि वाले जिज्ञासुओं की ओर मुड़ते हैं। हर कर्म में सिद्धि प्राप्त करने के हेतु उसके जिज्ञासु में जो गुण होना चाहिए उन्हीं को, आप देखेंगे, तुलसी ने रामकथा के जिज्ञासु के बारे में बताया है। इस संबंध में उनकी प्राथमिक पंक्तियाँ ये हैं—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुन लागहि फीकी।।
हरिहर पदरति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।।[३२]

उक्त पंक्तियों में जो महत्व हमें दिखाई देता है वह निम्न प्रकार से देखिए—(१) पहली पंक्ति में 'प्रभु' शब्द आया है तो दूसरी में 'हरि' और 'हर' क्यों आये हैं? (२) पहली में पद-प्रीति कहा है तो दूसरी में पद-रति कहने का क्या तात्पर्य है? और (३) 'पद' शब्द का क्या महत्वार्थ है?

(१) यद्यपि सत् एक है पर उसके गुण अनन्त हैं। इसलिए गुण प्रदर्शनार्थ उसके नाम भी अनेक हैं। हर नाम का निरूपण किसी गुण या गुणों के आधार पर किया गया है। कभी-कभी एक ही नाम एक से अधिक या सर्वगुणों का द्योतक होता है, और कभी एक ही गुणों को बताने वाले एक से अधिक नाम मिलते हैं। सृष्टि के विधान में तीन गुण प्रधान हैं, यथा-रचना या सृजन (Creation), रक्षण या पालन (Preservation) और त्याग या निर्वाण (Non-attachment or Renunciation)। इन तीनों क्रियाओं को हिन्दू-संस्कृति में त्रिदेव कहते हैं जिनके प्रचलित नाम हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश। विष्णु को हरि और महेश को हर भी कहते हैं। तुलसी ने 'हरि' का प्रयोग कभी सर्वगुण सम्पन्न सत् के लिये किया है अर्थात् उपर्युक्त तीनों गुण उसके अन्तर्गत आ जाते हैं और कभी केवल एक गुण वाले 'विष्णु' के लिये। परन्तु 'हर' सर्वत्र केवल महेश का प्रतीक माना

३२. मानस बा० कां० ८।५–६

जाता है। इसलिए जब उपर्युक्त दूसरी पंक्ति में 'हरि' 'हर' के साथ आया है तो 'हरि' का अर्थ केवल 'विष्णुवाचक' ही हो सकता है। अक्षरार्थ की दृष्टि से 'प्रभु' (प्र+भु) शब्द का अर्थ होता है 'वृद्धि-सूचक शक्ति' (Dynamic force) क्योंकि 'प्र' का अर्थ है 'आगे बढ़ना' (Forward) और 'भु' का अर्थ है 'होना' (To become)। इस तरह पहली पंक्ति में 'प्रभु' शब्द में उपर्युक्त तीनों क्रियाओं का भाव इस तरह निहित है कि ईश्वरीय सत्ता स्थिर रूप (Static) नहीं है बल्कि वृद्धि-सूचक (Dynamic) है। तुलसी ने मानस में इस 'प्रभु' का प्रयोग भी जहाँ तक हमें पता है, सर्वत्र सर्वगुण सम्पन्न सत्ता के लिये किया है। यदि अक्षरार्थ की दृष्टि से 'प्रभु' का अर्थ 'ब्रह्मा' (Creative force) ही लिया जाय तो भी जिस महत्त्व को हम बताना चाहते हैं उसमें कोई आपत्ति नहीं होती। सारांश यह कि 'रघुवर की कथा' में उपर्युक्त त्रिदेवात्मक अर्थात् त्रिक्रियात्मक भाव रहता है।

(२) 'प्रीति' और 'रति' का भेद स्पष्ट है, परन्तु वाचक उसके महत्त्व पर ध्यान नहीं रखते। 'प्रीति' किसी वस्तु या गुण विशेष की ओर आकर्षित करती है, और रति उसमें रम जाने, संलग्न हो जाने या तल्लीनता के भाव को बताती है। मग्न हो जाने पर ही विषय की विशिष्टताएँ झलकती हैं।

(३) भक्ति विषयक ग्रन्थों या वार्त्तालापों में बारम्बार 'पद' या 'चरण' अथवा 'पदकमल' या 'चरण कमल' आदि शब्द मिलते हैं। भक्तमार्गियों की पूजन-विधि तथा मूर्त्तिकारों एवं चित्रकारों की तत्संबंधी कला ने हमें इन शब्दों के मूल भावों से इतनी दूर कर दिया है कि हमें स्वप्न में भी उनका विचार नहीं आता। 'पद' और 'चरण' मूलत: स्थिति विशेष के द्योतक हैं, न कि 'पाँव' के। आज भी हम 'प्रधान-पद', 'मंत्री-पद', 'पद-लोलुप' आदि शब्दों का प्रयोग स्थिति-विशेष के लिये करते हैं। 'चरण' 'चर्' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'चलना'। इसी मूल भाव के अर्थ में आज भी 'चरित' 'आचरण' आदि का प्रयोग किया जाता है। अतः

'पदप्रीति' और 'पद-रति' में स्थित विशेष का भाव समझकर ही पढ़ना चाहिए न कि शिला-मूर्त्ति या कागजी झाँकी के पाँवों की विचारशून्य पूजा का भाव समझकर।

(१) पद-रत अधिकारी :—अब इस प्रारम्भिक भूमिका के बाद देखा जाय कि तुलसी ने किन लोगों को किस प्रकार के अधिकारी कहा है। वे, हमारी समझ में, तीन प्रकार के कहे गये हैं। एक वे जो पद-रत हों, दूसरे वे जो नीति-रत हों और तीसरे वे जो भक्ति-रत हों। इन तीनों के लिए एक सर्वमान्य आवश्यकता यह तो है ही कि उनमें प्रभु-पद-प्रीति अर्थात् राम, रघुवर, या प्रभु नाम्नी उपर्युक्त त्रिक्रियात्मक उपाधि (पद) के प्रति प्रीति या रुचि हो। बिना प्रीति के सुनने की आकांक्षा ही नहीं हो सकती। आकांक्षा के साथ ही समझने की शक्ति (सामुझि नीकी) होनी चाहिए और कुतर्की नहीं होना चाहिए, तभी श्रोता में दत्त-चित्त (रत) होकर श्रवण करने और चिन्तन करने की क्षमता आ सकती है। चित्त-वृत्तियों का निरोध कर (चित्त-वृत्ति-निरोधः योगः)[३३] आत्मस्थिरता, अथवा समत्व को प्राप्त (समत्वं योग उच्यते)[३४] करनेवाला योगी ही अपने कार्य में रत कहाने का अधिकारी हो सकता है। रामकथा में रत हो जाने वाले श्रोता को ही उसमें माधुर्य और आनन्द मिलता है। जो मनुष्य अपने कार्य में रत होकर उसे सम्पन्न करने का प्रयास करता है उसे बहुधा कार्य-रत कहते हैं, परन्तु तुलसी ने कथा-संबंध के कारण उसे पद-रत कहा है। यही उक्त दो पंक्तियों का सार है। कार्य-रत की विशेषता यह है कि वह किसी कठिनाई या सन्देह से विच-लित नहीं होता। उसका नेपोलियन के समान, कहना रहता है कि 'असम्भव शब्द कोष से निकाल देना चाहिए'। तात्पर्य यह कि वह आत्मबल पर भरोसा करने वाला होता है। यही स्थिति तुलसी के पद-रती की समझना चाहिए। यदि किसी स्थिति विशेष सूचक किसी शब्द या पद या वाक्य को देखकर

---

३३. पातञ्जल योग शास्त्र १

३४. गीता २।४८

कोई शंका उसके मन में कथा संबंधी उठती है तो वह उस पर बार-बार आत्म-चिन्तन और शास्त्र-चिन्तन (शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय)[35] के द्वारा उसका निराकरण स्वयं कर लेता है।

(२) नीति-रत अधिकारी :—पद-रत और नीति-रत अधिकारी में यह भेद है कि पदरत को अपने बल का भरोसा रहता है और नीति-रत को पराये-बल का। यही भाव तुलसी की निम्न पंक्तियों से निकलता है—

'राम कथा के तेई अधिकारी। जिनके सत संगत अति प्यारी॥
गुरु पद प्रीति नीति-रत जेई। द्विज-सेवक अधिकारी तेई'॥[36]

समाजहित-चिन्तन की दृष्टि से महापुरुषों द्वारा निर्धारित नियमों को नीति कहते हैं। उन नियमों का तन-मन-वचन से जो प्रतिपालन करे वही नीति-रत होता है। कम बुद्धि या विद्या वाले अधिक बुद्धि या विद्या वालों से सीखें, यह महापुरुषों और शास्त्रों का सर्वमान्य नियम है, इस मूल नियम पर विचार करके तुलसी ने उक्त पंक्तियों में यह दर्शाया है कि राम-कथा में रुचि रखने वाले श्रोताओं को अपनी कठिनाइयों या शंका का निवारण यदि वे स्वयं नहीं कर सकते तो, अपने से अधिक जानने वालों की सहायता से कर लेना चाहिए। ये अधिक जानने वाले तीन वर्ग के लोग कहे गये हैं—(१) सत्पुरुष (२) गुरु और (३) द्विज।

सत्याचारण-शील पुरुष सत्पुरुष कहलाता है। शास्त्रों से अनभिज्ञ अथवा विद्याहीन अविद्वान् भी सत्पुरुष हो सकता है क्योंकि आचारों की ही उसमें प्रधानता मानी जाती है। वह आत्मानुभूतियों (self realisation) के द्वारा कठिनाइयों वा शंकाओं को सुलझाने में सहायक हो सकता है।

'गुरु' शब्द से लोग उस पुरुष को समझा करते हैं जिसने आर्य-संस्कृति

---

३५. मानस अर० कां० ३६।८

३६. मानस उ० कां० १२७।६-७

विधान के अनुसार दीक्षा दी हो, और चूँकि इस प्रकार के गुरु केवल कान फूँकने वाले हो गये, इसलिए गुरु-सेवा, गुरु-भक्ति आदि शब्दों को सुनकर चिढ़-सी आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। यथार्थतः 'गुरु' में गरुअता अथवा श्रेष्ठता का भाव निहित है। इसलिए हर भली-भाँति संस्कृत-मनुष्य, जो तम को मिटाकर हृदय नेत्र खोल सके वह गुरु-पद का अधिकारी है। केवल दीक्षा देने वाले या अन्य शिक्षा देने वाले व्यक्ति-विशेष से तुलसी का अभिप्राय प्रतीत नहीं होता; क्योंकि व्यक्ति विशेष से हर समय सम्पर्क रखना असम्भव है।

जिस प्रकार 'गुरु' शब्द सुनकर लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं, उसी प्रकार द्विज-सेवा आदि सुनकर क्रुद्ध हो जाते हैं। 'द्विज' से प्रायः सभी 'ब्राह्मण' का अर्थ लगा लेते हैं; और चूँकि आजकल ब्राह्मण बहुतायत से पथ-भ्रष्ट हैं, इसलिए द्विज-सेवा आदि सुनकर भी लोग नाराज़ हो जावें तो कोई अनहोनी बात नहीं समझनी चाहिए। यथार्थतः द्विज शब्द विद्याधर या विद्वान् का द्योतक है। जन्म-संस्कार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यह कदापि न समझा जाय कि ज्ञान-शिरोमणि तुलसी ने 'गुरु' और 'द्विज' का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया है। तुलसी का तात्पर्य इतना ही है कि ज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों की सेवा-शुश्रूषा कर उनसे अपनी राम-कथा विषयक शंकाओं का समाधान करा लेना चाहिए। ठीक ऐसा ही निर्देश गीता में दिया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥[३७]

अर्थात् यदि तुम्हें ज्ञान प्राप्त करना है तो उन ज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों के पास जाओ जो तुम्हें बताने को तैयार हों और उन्हें साष्टांग प्रणाम कर अथवा उनकी सेवा कर, जब वे प्रसन्न हों, तब उनसे आवश्यक प्रश्न, उप-प्रश्न (परि + प्रश्नेन) पूछ अपनी शंकाओं का समाधान करो।

---

३७. गीता ४।३७

(३) **भक्ति-रत अधिकारी** :—पद-रत और नीतिरत अधिकारियों के अतिरिक्त एक प्रकार के अधिकारियों का वर्णन और मानस में उस प्रसंग में मिलता है, जब याज्ञवल्क्य मुनि रामकथा के वक्ता और भरद्वाज मुनि उनके श्रोता थे। दोनों एक समान आचरणशील, एक समान तत्त्वदर्शी, एक समान हरिचरित्रों के ज्ञाता, एक समान सृष्टि-हितचिन्तन से प्रेरित, भूत-वर्तमान-भविष्य को परखने वाले और एक समान हरि के भक्त थे। जब वक्ता और श्रोता में इस प्रकार की समताएँ मिल जाती हैं अथवा जब वे दोनों एक ही स्तर वाले होते हैं तो वे राम-विषयक जटिल प्रश्नों पर परस्पर वार्त्तालाप कर विवेचना करने योग्य होते हैं। ये हैं तुलसी की वे पंक्तियाँ जिनमें हमें उक्त भाव मिलता है—

'ते श्रोता वकता समसीला। समदरसी जानहिं हरि लीला।।
जानहिं तीन काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना।।
औरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना।।'[३८]

तीसरी पंक्ति विशेष महत्त्व की है। उसमें "औरउ = जे" से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह प्रथम दो पंक्तियों से असम्बंधित है और किन्हीं दूसरे 'हरि-भक्तों' के विषय में कहती है। उसका अर्थ यह है कि श्रोता और वक्ता दोनों में जब अन्य और गुणों की समता के अतिरिक्त, जिनका वर्णन प्रथम दो पंक्तियों में किया गया है ज्ञानमय हरिभक्ति (हरिभगत सुजाना) और होती है तभी श्रोता वक्ता की श्रेणी का होकर केवल 'सुनने' और 'समझने' वाला अधिकारी न रहकर 'कहने' का भी अधिकारी बन जाता है। इसीलिए तीसरी पंक्ति के दूसरे चरण में 'कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना' कहा गया है। ज्ञानी होना या हरिलीला जान लेना एक बात है जैसा प्रथम दो पंक्तियों में बताया गया है, और ज्ञानी हरिभगत होना बिलकुल दूसरी बात जैसा तीसरी पंक्ति में कहा है। जानना (ज्ञान) और तदनुसार आचरण करना

---

३८. मानस बा० कां०, २९ (ग) ६-८, नोट—आमलक = आँवला, जो आसानी से उलट-फेर कर चारों तरफ से देखा जा सकता है।

इन दोनों बातों के होने से ही भक्त-पद प्राप्त होता है। अतः जब श्रोता रामकथा के वक्ता के समान सुजान (ज्ञानी) हरिभक्त हों तब ही वह उसके साथ रामकथा पर विवेचनात्मक या आलोचनात्मक वार्तालाप करने के योग्य बन सकता है। ऐसे अधिकारी श्रोता को 'भक्ति-रत' कहना हमारी समझ में, उपयुक्त है। जो अधिकारी भक्ति-रत नहीं होता उसे तुलसी ने सुनने और समझने का ही अधिकारी बताया है, जैसे 'पैहहिं सुख सुनि सुजन जन'[३९], 'सो विचारि सुनहहिं सुमति'[४०], अथवा 'सुनि समुझहिं जन मुदित मन'[४१] इत्यादि।

मानस में जिज्ञासु और आलोचक का अधिकार क्षेत्र :—

निष्कर्ष रूप से अब यह कहा जा सकता है कि खल और विषय-लोलुप अनधिकारियों के तात्पर्य या शंकाओं को परिहास या प्रलापमात्र समझकर ही छोड़ देना चाहिए और पूर्वोक्त पद-रत, नीति-रत तथा भक्ति-रत अधिकारियों के प्रश्नों पर विचार कर उनका समाधान ढूँढ़ना चाहिए। परन्तु जब तक प्रश्नकर्त्ता सामने न हो अथवा जब तक उससे पूर्व-परिचय न हो तब तक केवल प्रश्न को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह अधिकारी है या अनधिकारी, खल है या सुजन। इसलिए सभी शंकाओं को दो वर्गों में विभक्त कर लेने से काम चल सकता है। एक जिज्ञासुओं की शंकाए, और दूसरे आलोचकों (विवेचकों) की। मानस में कथित किसी बात के संबंध में जब कोई ऐसा प्रश्न उठाया हुआ देखा जाय कि जिससे यह मालूम पड़े कि प्रश्नकर्त्ता केवल तत्संबंधी कठिनाई का हल चाहता है तो उससे यह समझा जा सकता है कि वह जिज्ञासु की शंका है। इस प्रकार की शंकाएँ कुछ तो भावार्थ की कठिनता से उत्पन्न होती हैं और अधिकतर भावार्थ

---

३९. मानस बा० कां० ८
४०. मानस बा० कां० ९
४१. मानस बा० कां० २

को न समझ सकने के कारण । कुछ लेखकों ने इस प्रकार की अनेकों शंकाओं और उनके समाधानों को, अपने-अपने अनुरूप स्वयं प्रश्नकर्त्ता या समाधानकर्त्ता होकर प्रकाशित किया है, परन्तु उन्हें देखने से यही प्रतीत होता है कि उनमें से अनेकों प्रश्न तो लेखक महोदय ही के मन में उठे हुए रहते हैं और वही उनका समाधान भी निकाल लेते हैं। इन्हीं लोगों को पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार कार्यरत और तुलसी के शब्दों में, पद-रत कहा जा सकता है। सच कहा जाय तो इन लोगों की पुस्तकों या लेखों में बहुत-सी ऐसी बातें रहती ही नही जिन पर अच्छे से अच्छे मननशील श्रद्धावान् को भी शंकाएँ उठा करती हैं या उठ सकती हैं और जिनका, जब तक कि उन्हें कल्पनात्मक कहकर न टाला जाय, समाधान भी वैज्ञानिक रूप से करना बड़ा कठिन होता है। इस प्रकार की प्रायः सभी शंकाएँ मानस में कथित पौराणिक आख्यानों से उत्पन्न होती हैं, जैसे ईश्वर के दो द्वारपाल, जय और विजय का होना, तथा श्रापवश उनका हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप होना, और फिर रावणादि का होना, सीता का हल की नोंक से पृथ्वी में से उत्पन्न होना, अथवा पार्वती का हिमाचल पर्वत की पुत्री होना इत्यादि।

इसके विपरीत जब शंका के साथ-साथ कोई शंकाग्रस्त मानस में कथित तुलसीमत अथवा 'नाना पुराणनिगमागम सम्मतं' कथा या आख्यान को गलत बताकर अपना कोई नया निदान निकाले तो उसकी शंकाओं को, हमारी समझ में, आलोचक की शंकाएँ कहना उपयुक्त होगा, जैसे कोई ईश्वर वा अवतार को न माने और प्रकृतिवाद में सत्यारोप करे, अथवा समुद्र में पत्थरों के तैरने को तथा पर्वत समेत हनुमान के आकाश मार्ग से उड़ने आदि को झूठा कहता हुआ तुलसी पर अन्धविश्वासादि का दोषारोपण करे। इस प्रकार का शंकाग्रस्त श्रोता यद्यपि आधुनिक दृष्टिकोण से समालोचक की श्रेणी में भले ही मान लिया जाय तथापि हमारी समझ में, तुलसी के मत में, समशील-समदर्शी-त्रिकालज्ञ-भक्ति-रत नहीं माना जायगा, और इसलिए वक्ता के समस्तर का न होने के कारण वह रामकथा के विषय (Theme) पर विवेचन करने या अपने निदान निकालने का अधिकारी

नहीं हो सकता। तब फिर रजनीकांत जी जैसे मीमांसकों के समान सम्भवतः आप भी कह बैठे कि तुलसी स्वयं अन्धविश्वासी था, और उसने अपनी इस 'भक्ति-रत' वाली अनोखी उपर्युक्त चाल से दूसरे स्वतंत्र विचारकों को भी अपनी नाई अन्धे बनाये रखना चाहा है। बात ऐसी नहीं है। आइन्सटीन (Einsteine) या जगदीशचन्द्र बोस की आलोचना वही कर सकता है जो उनके जैसा विज्ञान-रत हो, यह कोई भी साधारण बुद्धि का व्यक्ति जानता है। तब तुलसी ने यदि वाल्मीकि-भरद्वाज का दृष्टांत देकर भक्ति-रत कह दिया तो इसमें क्या अनोखापन है? तुलसी ने केवल अनधिकृत स्वच्छन्दता की रोक के लिये उसी प्रकार चेतावनी दे रखी थी जैसी हर महापुरुष या हर क्रान्तिकारी मनुष्य दे रखता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि हर महापुरुष जब समाज में किसी नवीन योजना के आधार पर आन्दोलन करना चाहता है तब वह अपनी योजना के प्रचार वा संचालन की बागडोर अपने हाथ में ही सम्हाल कर रखना चाहता है, ताकि जो उसकी तह में नही पहुँचते, उसके आन्दोलन को अपने दूषित प्रचार वा संचालन के द्वारा किसी प्रकार की क्षति न पहुँचा सकें। इस रोक के दो तरीके होते हैं—एक हिंसात्मक तरीका अर्थात् बल (Physical force) के द्वारा रोकना, जैसे रूसी क्रान्तिकारी स्टालिन का और दूसरा अहिंसात्मक अर्थात् शांतिपूर्वक लोगों को समझा-बुझाकर अनधिकृत या नासमझ लोगों को रोकना, जैसे भारतीय क्रांतिकारी गांधीजी का। आपको स्मरण होगा कि अहिंसात्मक असहयोग के द्वारा क्रांति लाने के हेतु गांधीजी अन्य लोगों से निरंतर यही कहा करते थे कि उसकी विशिष्टता को वे ही जानते हैं इसलिए उसका समझाने या संचालन का काम कोई दूसरा अपने हाथ में न ले, नही तो क्रांतिमय उद्देश्य असफल हो जायगा। चूँकि उनके इस आदेश का प्रतिपालन नही हो पाता था, इसलिए उन्हें अपने उक्त आन्दोलन को कई बार स्थगित करना पड़ता था और प्रायश्चित्त के रूप में उपवास आदि भी कई बार करने पड़े थे। यही अहिंसात्मक रोक का भाव तुलसीदास जी क 'समशील' आदिवाले उक्त कथन में निहित है, ऐसा हमारा मन्तव्य है;

क्योंकि उनका विचार था कि राम-मंत्र के द्वारा समाज में क्रान्ति लाई जाय, जिस प्रकार कि अहिंसा मंत्र को फूँककर गांधीजी लाना चाहते थे। उसी क्रांति को लाने के हेतु उन्होंने अपनी एक योजना तैयार की थी, जिसके प्रचार के लिये उन्होंने रामचरितमानस की रचना की। जो लोग यह समझ कर मानस पढ़ते हैं कि वह एक कौटुम्बिक कलह या कौटुम्बिक प्रेम का या कि वह केवल स्त्रीहरण के कारण महायुद्ध का ग्रन्थ है या कि उसमें निरी माला फेरने की रामभक्ति का उपदेश है वे बेचारे इस बात से नितांत अनभिज्ञ हैं कि उसमें महाक्रांति फूँकने का एक महा संदेश है। जिस ग्रंथ में सर्वजगत् के कर्त्ता और नियन्ता को ही आदर्श बनाया हो, जिस ग्रंथ में एक ऐसे महापुरुष को पूज्य पथ-प्रदर्शक कहा हो, जिसमें उस सर्वशक्तिमान महाप्रभु का सबसे अधिक समाजोपयोगी स्फुरण हुआ हो, तथा जिस ग्रंथ में नर को नारायण तक बनने की क्षमता रखी गयी हो उसी में यदि कोई सामाजिक क्रांति का मंत्र न देख पाये तो हमारी समझ में वह न मानस को समझ सका और न तुलसी को। यदि मानस को अपने एक निराले ढंग का तुलसी की क्रांतिकारिणी योजना का, मार्क्स के घोषणापत्र (manifesto) जैसा घोषणापत्र कहा जाय या कि गांधी का जैसा 'हिन्द स्वराज्य' (Indian Home Rule) कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा।

: ५ :

तुलसी की विचारधारा पर आरोपित दोष और उनके निराकरण

तुलसी पर त्रिविध दोषारोपण:—

प्रथम अध्याय में हम कह चुके हैं कि तुलसी कुछेक लोगों को छोड़ सभी की दृष्टि में महासन्त थे। इनमें वे लोग हैं जिनकी धारणा यह है कि तुलसीदास (१) केवल हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-धर्म के सुधारक थे अर्थात् उनमें साम्प्रदायिकता थी; (२) हिन्दू-जाति के अन्तर्गत भी उनमें सब लोगों के प्रति एक समान प्रेमभाव नहीं था। वे ब्राह्मणों के पक्षपाती थे और शूद्रों के द्रोही और (३) उन्होंने नारी-वर्ग का पर्याप्त तिरस्कार किया और इसलिए समाज के सम्मुख अपराधी हैं।

(१) हिन्दू साम्प्रदायिकता का दोषारोपण और उसका निराकरण— अतएव इस अध्याय में हमें इन दोषारोपणों पर अपना मत प्रकट करके यह बताना है कि वे निर्मूल हैं। तुलसीदास जी का कार्य-क्षेत्र किसी सम्प्रदाय विशेष, जाति विशेष, वर्ग विशेष के हित या अहित के दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं था, भले ही तत्कालीन परिस्थितियों-वश उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र को सीमित रखना पड़ा हो। उनका कार्य-क्रम एकात्म भाव से प्रेरित था, और इसलिए वे न केवल सन्त ही थे वरन् महासन्त थे, यही हमें इस अध्याय में बताना है। यदि यह सिद्ध नहीं हुआ तो प्रथम अध्याय में हमारे द्वारा क्रान्तिकारी महापुरुष के बताये हुए लक्षणों में कमी आ जाने से तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष कहाये जाने के अधिकारी न बन सकेंगे।

(क) हिन्दू-धर्म स्वाभाविक नियमों (Natural Laws) **पर आधारित है :**—तुलसी हिन्दुस्तान में हिन्दू माता-पिता के घर जन्मे और हिन्दू-संस्कृति में पाले-पोसे गये। उन्होंने कबीर आदि सन्त कहाये जाने वाले सुधारकों का अनुकरण न कर हिन्दुओं के चिरकालीन वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगायी, और वह भी हिन्दी भाषा के द्वारा तथा हिन्दुओं के ईश्वरवाची 'राम' के नामाधार पर। ऐसी स्थिति में जब कि हिन्दुस्तान में न केवल हिन्दू जाति ही थी वरन् मुसलिम जाति भी बस गयी थी तथा कुछ लोग उनका मेल कराने के लिये हिन्दुओं की जाति-पाँति, तोड़कर उन दोनों का खान-पान का पारस्परिक व्यवहार बढ़ाने एवं मूर्ति-पूजा आदि की सार्थकता मिटाने में संलग्न थे, तब यदि तुलसी की उपर्युक्त योजना को देखकर कोई उन पर साम्प्रदायिकता का दोष लगाने के लिये खड़ा हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु इसे केवल भ्रम से उत्पन्न प्रतीति-मात्र ही समझना चाहिए। यदि रामचरितमानस को ही विचार-पूर्वक पढ़ा जाय तो विदित होगा कि यद्यपि तुलसी ने उसकी इमारत हिन्दुओं के शास्त्रों के आधार पर खड़ी की है तथापि उसमें उन अटल प्राकृतिक स्वाभाविक अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश है, जिनके पालन से सार्वदेशिक समाज सुख-लाभ प्राप्त कर सकता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आर्य-संस्कृति को पोषक आर्यशास्त्रों में मूलतः उन्हीं सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है, जो सर्वजातीय-सर्वकालीन मानव-समाज को सुखी बनाने के लिये पर्याप्त हैं। यही कारण है कि आधुनिक काल के महाक्रान्ति-कारी महात्मा गांधीजी ने, जिनके व्यवहार-कुशल तत्त्वज्ञ होने में कोई सन्देह नहीं है, तुलसीकृत रामायण की प्रशंसा उसी प्रकार की है जिस प्रकार श्रीमद्भागवत गीता की की है। उन्होंने कहा है कि "जितना आनन्द मुझे गीता या तुलसीकृत रामायण के गान में मिलता है उतना अन्य और किसी प्रकार से नहीं मिलता।"[१] "रामायण, और नहीं तो कम से कम मेरे लिए

---

१. यंग इण्डिया, ६–१०-१९२१ ई०

प्रायः अद्वितीय ही है. . . . . .पुस्तक में आत्मीयता का जो संचरण है उसी ने मुझे मंत्र-मुग्ध कर बांध लिया है।"[2] तुलसीकृत रामायण का सारा विषय तुलसी ने वर्णाश्रम-धर्म के सूत्र में बांधा है और गांधीजी भी वर्णाश्रम-व्यवस्था के कट्टर पक्षकार थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि "मेरी सम्मति तो यह है कि वर्णाश्रम मनुष्य का स्वाभाविक लक्षण है और हिन्दू धर्म ने उसे केवल वैज्ञानिक रूप दे दिया है। वह निस्सन्देह जन्म से सम्बन्धित रहता है, (It does attach to birth)। मनुष्य अपना वर्ण जब जी चाहे तब नहीं बदल सकता। अपने वर्ण का त्यागना मानो परंपरागत अधिनियम का उल्लंघन करना है (Not to abide by one's Varna is to disregard the law of heredity)। परन्तु असंख्य जातियों में विभक्त हो जाना उस सिद्धान्त का अवांछनीय दुरुपयोग है। चार विभाग ही सर्व प्रकार से पर्याप्त हैं। . . . . .वर्णाश्रम, आत्म-संयम और शक्ति-संचय एवं शक्ति की मितव्ययिता का द्योतक है। इसलिए यद्यपि वर्णाश्रम का अन्तर्जातीय भोजन तथा अन्तर्जातीय विवाह से कुछ बिगड़ता नहीं है, तथापि वह विभक्त वर्णों के बीच अन्तर्जातीय भोजन वा विवाह के लिये प्रोत्साहित नहीं करता।"[3]

(ख) आश्रम-व्यवस्था में स्वाभाविकता—अब आइये! हम स्वयं देखें कि वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म किस तरह स्वाभाविक नियमों पर आधारित होने के कारण सर्वदेशीय और सर्वजातीय हैं, अथवा होना चाहिए। पहले आश्रम-व्यवस्था को ही लीजिये; क्योंकि वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा उसका समझना सरल है।

किसी भी समाज के किसी भी मनुष्य के जीवन को परखिये तो विदित होगा कि उसे अपने जीवन-काल में चार प्रकार की अनुभूतियाँ अपने आप होती हैं। प्रथम तो यह कि बाल्यकाल से लेकर यौवनकाल तक उसे सीखने-

---

२. वही २७–८-१९२५ ई०

३. वही ६–१०-१९२१ ई० (हिन्दू धर्म पृ० ३७४)

पढ़ने-जानने अर्थात् ज्ञान-प्राप्त करने की इच्छा होती है। फिर युवावस्था आने पर विवाहादि की ओर उसका मन जाता है, तथा सन्तान वा गृहस्थी की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। तीसरी सीढ़ी उस समय प्रारम्भ हो जाती है जब उसका मन गृहस्थी के बखेड़ों से ऊबना प्रारम्भ होने लगता है। ऐसी प्रवृत्ति उम्र के ढलकने के साथ ही साथ आरम्भ होने लगती है। चौथी प्रवृत्ति का प्रारम्भ बुढ़ापा आने पर होता है। उस समय मनुष्य मात्र की इच्छा यही होती है कि गृहस्थी छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाय। बस ! इन्हीं चार स्वाभाविक प्रवृत्तियों का नाम हिन्दू-शास्त्रकारों ने आश्रम कहा है। यह एक स्वयं-सिद्ध सत्य है कि यदि स्वाभाविकी प्रवृत्तियों का उचित प्रकार से नियंत्रण न किया जाय तो उनसे लाभ के स्थान में हानि की संभावना रहती है। इसी बात को ध्यान में रख उक्त शास्त्रकारों ने आश्रम-व्यवस्था को वैज्ञानिक साँचे में ढाला। उन्होंने मानव-जीवन की आयु सामान्यतः सौ वर्ष की कूती।[४] फिर पूर्वोक्त प्रवृत्तियों के आधार पर उसको चार समकालीन विभागों में विभक्त किया तथा हर विभाग के समय की प्राकृतिक गतिविधियों को इस प्रकार नियम-बद्ध किया कि जिनके अनुपालन से न केवल साधक को, किन्तु समाज को भी पर्याप्त सुख-लाभ हो। इसी भाव को दर्शाने के लिये उन्होंने, हमारी सम्मति में, 'आश्रम' शब्द का प्रयोग किया है। आश्रम (आ + श्रम) शब्द संयमित परिश्रम अथवा तप करते हुए लोकचर्या का प्रतीक है। इस तरह आर्यों ने ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम का विधान निर्मित किया।

उक्त भारतीय समाज के अतिरिक्त जहाँ तक हमें ज्ञात है, अन्य किसी दूसरे समाज ने अपने जीवन-शास्त्रों में इन चारों का न तो कोई व्यवस्थित विधान बनाया और न उनके अनुसार आचरण करने के लिये आदेश या आग्रह किया। जहाँ देखो वहाँ प्रथम दो विभागों, अर्थात् विद्यार्थी काल और गृहस्थकाल पर ध्यान रखा पाया जाता है और वह भी ऐसा कि जिससे

---

४. ईशावास्योपनिषद् मं० २

मानव समाज केवल लौकिक वैभव तथा प्रलोभनों की ओर अग्रसर होने के लिये लालायित रहता है। भारतीय आश्रमों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उनमें जीवन के दोनों पहलुओं अर्थात् लोकवृत और ब्रह्म-वृत को साथ-साथ विकसित होते जाने के लिये विधान रखे गये हैं। यही कारण है कि उन्होंने जीवन के प्रथम भाग को अत्यन्त महत्त्व देने के अभिप्राय से उसे 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा से विभूषित किया है। दोनों तों की उपयोगिता को जान लेने पर ही प्रेम और सहयोग वाले आचार-क्षेत्र अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था। तत्पश्चात् देशाटन, तीर्थाटन तथा वनादि के प्राकृतिक सौन्दर्य आदि की ओर ले जाने वाले वानप्रस्थ (वन को प्रस्थान) आश्रम में पहुँचा जाता था, और अन्त में त्यागमय चोथा संन्यासाश्रम आता था, जिसका अनुपालक मानव मात्र को एकात्म के रूप में देखने लगता है। तुलसी के काल में मानव-जीवन कंचन-नारी-मोह आदि के कारण अत्यन्त विषम स्थितियों से गुजर रहा था। उसी का उद्धार करने के लिये उन्होंने आश्रम-व्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहा था। यदि कोई यह देख कर कि तुलसी ने हिन्दुओं द्वारा प्रतिपादित आश्रम विभाग के महत्त्व पर बड़ा आग्रह किया है यह कहने लग जाय कि तुलसी में साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दुत्व की बू थी तो उसका कहना सा ही मूर्खतापूर्ण होगा, जैसा कोई यह कहे कि न्यूटन द्वारा प्रतिपादित गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त उसीकी जाति के अंग्रेज लोगों के लिये उपयुक्त है न कि अन्य दूसरे जाति के लोगों के लिये।

(ग) वर्ण-व्यवस्था में स्वाभाविकता:—आश्रम-विभाग के समान वर्ण-विभाग भी स्वाभाविक वृत्तियों पर आधारित होने के कारण सार्वदेशिक समाज के लिये हितकर है। आश्रमों के समान वर्ण भी चार प्रकार के हैं। आश्रम यदि व्यक्तिगत धर्म की प्रधानता लेकर समाज-व्यवस्था में परिणत हो जाता है, तो वर्ण समाज-व्यवस्था की प्रधानता लेकर व्यक्तिगत धर्म में विलीन हो जाता है। इसलिए वर्ण-विभाग के रहस्य को समझने के लिये हमें पहले अपना ध्यान समाज पर ले जाना आवश्यक है, और चूँकि हम भिन्न-भिन्न समाजों का भिन्न-भिन्न प्रकार से विभक्तीकरण देखते हैं,

इसलिए वर्ण-विभाग के महत्त्व को जानने में बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है? इस भ्रम का एक मूल कारण यही है कि वर्ण-व्यवस्था को केवल हिन्दू-समाज ने ही वैज्ञानिक रूप दिया है, परन्तु कालान्तर से अभाग्यवश वही हिन्दू समाज सैकड़ों जातियों में विभक्त हो पड़ा है। इसलिए न केवल अन्य समाजों के लोग बल्कि हिन्दू समाज ही के अधिकांश लोग वर्ण और जाति के भेद को भूल जाते हैं—तर्क करते-करते जब 'वर्ग' के स्थान में यह बहु-मुखी 'जाति' मस्तिष्क में प्रवेश कर जाती है तो तर्कशील विद्वान् की बुद्धि भी भ्रम-चक्र में फँस बैठती है। अतः पाठकों से निवेदन है कि वर्ण-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण भावार्थ को समझने के हेतु किसी भी युग के किसी भी ऐसे समाज का दृश्य अपने नेत्रों के सामने ले आवें जिसकी जनता में अपनी तथा समाज की उन्नति और रक्षण की चेतना तो जागृत हो उठी हो, पर परस्पर में कोई भेद-भाव न रखती हो।

(१) गुण और कर्म का स्वाभाविक सम्बन्धः— समाज चाहे जो हो, आपको विदित होगा कि रंग-डील-डौल, शिक्षित-अशिक्षित आदि अनेक प्रकार के भेद-विभेदों के रहते हुए भी सर्व संसार के मनुष्य मात्र में कुछ आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार की स्वाभाविक गतियाँ अभेद रूप से कार्य करती हैं, जैसे स्वाँस का चलना, खाना-पीना इत्यादि। इन समस्त गतियों का बोध शास्त्रों में केवल एक शब्द 'कर्म' के द्वारा कराया गया है। हर क्षण किसी न किसी कर्म का व्यापार चलता ही रहता है। फिर हर कर्म का कोई न कोई कारण भी अवश्य होता है। एक कारण के अनेक कर्म, और एक कर्म के अनेक कारण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, ये कर्म और कारण एक दूसरे से इस तरह सम्बन्धित होते रहते हैं कि एक वही कर्म, जिसे किसी कारण ने उत्पन्न किया, कारण रूप बन दूसरे कर्म या कर्मों का उत्पादक बन जाता है। परन्तु कारण-कर्म की इस उलझन को अभी जाने दीजिये और यह न भूलिये कि हिन्दू शास्त्रियों ने समस्त कारणों को केवल एक शब्द गुण के द्वारा सूचित कर रखा है। फिर इस 'गुण' का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। तत्त्वज्ञ कहते हैं, वह है 'प्रकृति', अथवा

'स्वभाव'[5]। तात्पर्य यह हुआ कि मानव के समस्त कर्मों का आदि कारण प्रकृति या स्वभाव (nature) होता है, जिसे शास्त्रज्ञ उपादान कारण कहते हैं। इसीलिए कहा गया है—

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥"[6]

अर्थात्—ऐसा एक क्षण भी कभी नहीं गुजरता जब कोई बिना कर्म किये रहता हो। सब (प्रकृति जैः) प्रकृति से उत्पन्न (गुणैः) गुणों द्वारा (अवशः) परवश हुए कर्म करते हैं।

इन समस्त गुणों को शास्त्रकारों ने तीन विभागों में विभक्त किया है, यथा सत्, रज और तम **(सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवः)**[7], इनका नामकरण निर्मल-प्रकाश के दृष्टिकोण से किया गया है। इसलिए सत् प्रकाश का, रज धुँधलेपन का और तम अंधकार का अर्थवाची है। साधारण भाषा में इन तीनों स्थितियों को लोग अच्छा, मध्यम और बुरा कहकर दर्शाते हैं। परन्तु अधिकतर केवल अच्छा और बुरा इन्हीं दो स्थितियों के विषय में कहा-सुना करते हैं—बीच वाली स्थिति पर जो इन दो का मिश्रित रूप होता है, विचार नहीं करते। सच पूछा जाय तो इस सृष्टि में सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिति से लेकर स्थूलातिस्थूल स्थिति तक का क्रम अटूट रहता है। यही बात उपर्युक्त 'गुण' और 'कर्म' संज्ञाओं के विषय में ध्यान रखना चाहिए। इसी तरह सत, रज और तम ये तीनों एक लम्बे अटूट क्रम के तीन मोटे-मोटे रूप हैं। जो इस क्रम-बद्धता को ध्यान में रख लें उन्हें इस सिद्धान्त

---

५. प्रकृति (प्र+कृति)=वह स्थिति जब निष्क्रियता के स्थान में सक्रियता प्रारम्भ हो। इसी तरह स्वभाव (स्व+भाव) का अर्थ है वह स्थिति जब अभाव अथवा निष्भाव के स्थान में भाव का उठना प्रारम्भ हो। इससे प्रकृति या स्वभाव के पूर्व वाली सशक्त-निष्क्रिय स्थिति ही का नाम 'ब्रह्म' है।

६. गीता ३।५

७. वही १४।५

की सचाई में कोई सन्देह न रहेगा कि हमारा यह स्थूल शरीर हमारे सूक्ष्म या लिंग शरीर (मन + बुद्धि + चित्त + अहंकार) का निरा बाह्य रूप है, और सशक्त-निष्क्रियता से सक्रियता तथा सक्रियता से निष्क्रियता प्राप्त होती है। इसी अनुभूति के आधार पर यह कहा जाता है कि हमारा वर्तमान जीवन ही सब कुछ नहीं है—वह पूर्व जीवन और भविष्य जीवन से सम्बन्धित रहता है। इसी में पुनर्जीवन का सिद्धान्त निहित है। यों तो सभी धर्म-मत, जैसा कि जगत्-प्रसिद्ध थियॉफिस्ट विदुषी श्रीमती ऐनीबिसेन्ट ने कहा है, इन सिद्धान्तों को मानते हैं, परन्तु उनके अनुयायी अज्ञानता-वश उन्हें समझते नहीं।

(२) **कुरान में गुण और कर्म का सम्बन्धः**—जिसे हिन्दू शास्त्रज्ञ गुण और कर्म कहते हैं उसी को विज्ञान-शास्त्री कारण (cause) और परिणाम या फल (effect) कहते हैं। कुरान को विज्ञान-दृष्टि से अध्ययन करने वालों को कुरान में भी इन दोनों, कारण और फल, का सम्बन्ध स्थापित किया हुआ मिलता है। इस विषय पर हम विशेष रूप से कुछ अधिक न कहकर पाठक का ध्यान केवल श्री मौलाना मुहम्मद अली, एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा किये गये कुरान के अंग्रेजी अनुवाद की ओर आकृष्ट कर देना चाहते हैं। उक्त विद्वान् लेखक ने उक्त पुस्तक की भूमिका में एक विषय 'मत्यु के बाद का जीवन' (life after death) भी लिखा है, जिसमें उन्होंने कुरान की ५६:५७-६१, १७:१३, ५०:२२, ८६:९ एवं ९९:७-८ आयतों के आधार पर यह बताया है कि मृत्यु के अनन्तर जीवन की समाप्ति नहीं हो जाती, बल्कि मनुष्य पर अपने कर्मों का फल या प्रभाव अंकित होता रहता है और उसी के अनुसार वह इस जीवन तथा पाश्चात्य जीवन में उच्च या निम्नस्तर का भोक्ता बनता है।[८]

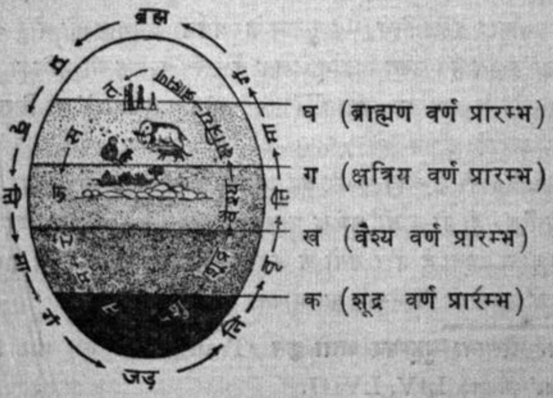
---

८. **मौलाना मुहम्मद अली कृत** 'Translation of the Holy Quran' pages LIV, LVIII.

(नोट—विस्तार-भय के कारण आयतों का अनुवाद उद्धृत नहीं किया जा सका, इसलिए पाठक क्षमा करें।)

(३) हिन्दू-मत और कुरान-मत में गुण-कर्म-सम्बन्धी समता :— उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट हो जाता है कि कारण, कर्म तथा कर्म-फलों के विषय में हिन्दू-मत और मुसलिम-मत में प्रायः समता है। भेद केवल भाषा और औपम्य का है। मोहम्मद अली सा० के उक्त अनुवाद के प्रमाण पर हम कह सकते हैं कि कुरान अपने निर्देश को यदि 'अच्छा' और 'बुरा' कहकर दर्शाती है तो हिन्दू शास्त्र 'अच्छा', 'मध्यम' और 'बुरा' अर्थात् 'सत्', 'रज' और 'तम' कहकर बताते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मों अथवा कर्म-कारण के दृष्टिकोण से जन-समूह का विभाजन किसी-किसी समाज में अच्छे लोग और बुरे लोग कह कर कर लेते हैं, जब कि हिन्दू उन्हें सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी कहकर करते हैं। ये ही विभाग वर्णों के मूलाधार हैं।

(४) चित्र द्वारा चार वर्णों का संकेत :—हिन्दू-तत्त्वज्ञों ने क्रमिक सम्बन्ध और वस्तु-ऐक्य को अलक्षित न कर उपर्युक्त तीन गुणों से उत्पन्न



कर्मों को चार प्रकार से देखा, और तदनुरूप उन्होंने जन-समूह को चार

प्रकार के लोगों या वर्णों में विभक्त किया। उन्होंने सत और तम दो छोर की स्थितियों के बीच की रजोगुणवाली स्थिति के दो विभाग किये। इसको ठीक तरह से समझने के लिये हम एक अंडाकार चित्र देते हैं, जिसमें सृष्टि की निवृत्ति रूप और प्रवृत्तिरूप गतियों का भाव व्यक्त किया गया है और उसी प्रवृत्तिरूप त्रिगुणात्मक सृष्टि के चार विभाग क्रमानुसार दिखाये गये हैं।

(५) वर्ण-विभाग में आत्म-विकास का रहस्योद्घाटन:—आत्म-विकास का रहस्य निम्न चार सिद्धान्तों पर निर्भर है, यथा (१) जीव ब्रह्म का अमर अंश है (ईश्वर अंश जीव अविनाशी); (२) प्रकृति का अर्थ है, कर्म-चक्र; (३) जीव बिना कर्म किये क्षण भर नहीं रह सकता; और (४) मृत्यु के पश्चात् गुण-कर्म के अनुसार पुनर्जन्म होता है।

उपर्युक्त चित्र में ज्योंही जीव ब्रह्म से अलग हुआ और प्रकृति (कर्म-चक्र) में प्रवृत्त हुआ त्योंही वह नीचे की ओर खिसकता जाता है। इस प्रकार वह दक्षिण की अन्तिम स्थिति (दक्षिणायन) में जड़ स्वरूप हो जाता है। फिर जड़ता से उत्तर की ओर (उत्तरायन) निवृत्त मार्ग को ग्रहण कर ब्रह्म में पुनः लीन होने के लिये अग्रसर होता है। चित्र में 'क' उस तम-क्षेत्र का द्योतक है जहाँ पत्थर-वृक्ष-पशु आदि योनियों को पार कर जीव मानव-रूप पाता है। इस स्थिति में वह मानव-क्षेत्र की अत्यन्त तमोगुणी श्रेणी में रहता है। इसके पश्चात् आत्म-विकास होते-होते वह रजोगुणक्षेत्र में प्रवेश करता है जो 'ख' अक्षर से बताया गया है, और जहाँ से उसके कर्म-गुण वैश्यवर्ण के कहे जाने लगते हैं। फिर इसी तरह विकसित होते हुए वह 'ग' स्थान पर क्षत्रिय वर्ण का, और 'घ' स्थान पर ब्राह्मण वर्ण का कहलाने का अधिकारी बन जाता है। इन चारों संज्ञाओं का निर्माण उनके मूलार्थ पर किया गया है। इसी गुण-कर्म पर आधारित आत्म-विकास के दृष्टिकोण से गीताकार ने भी गीता में उक्त चारों वर्णों की संकेतात्मक व्याख्या निम्न श्लोकों में की है—

(१) 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'[९]

[टिप्पणी—'परिचर्या' को देखकर कुछ लोग हिन्दू-धर्म पर कुपित हो कहने लगते हैं कि वह मानव मात्र को सम भाव से नहीं रखना चाहता। यह भूल है। 'स्वभावजम्' शब्द इस बात का द्योतक है कि जो मनुष्य आत्म-विकास की निम्नतम श्रेणी में रहकर तमोगुणी होता है वह स्वयं अन्य लोगों की नौकरी-चाकरी करने अथवा सेवा-शुश्रूषा करने में अपने जीवन का मूल्य समझता रहता है। दूसरे शब्दों में उसके कर्म स्वार्थ-प्रधान रहते हैं।]

(२) 'कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'[१०]

[टिप्पणी—आत्म-विकास की इस द्वितीय श्रेणी पर स्वार्थ-प्रवृत्ति घटकर परार्थ-प्रवृत्ति आना प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु दोनों में संघर्ष चलता है और स्वार्थ की प्रबलता बड़ी कठिनाई से कम की जा सकती है। आधुनिक काल में अधिकतर व्यवसायी जीवन दिखाई देता है, जो निम्न प्रकार के वैश्य वर्ण का कहा जाने योग्य है।]

(३) 'शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥'[११]

[टिप्पणी—इस श्लोक में जितने गुण क्षत्रिय के बताये हैं वे सब इस प्रकार के हैं, जिनसे प्रकट होता है कि—विकास की इस श्रेणी में पहुँचने पर परार्थ भाव की प्रबलता हो जाती है। 'ईश्वर-भाव' के कहने से स्पष्ट है कि उसमें आत्मोत्कृष्टता अधिक आ जाती है।]

(४) 'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥'[१२]

---

९. गीता १८।४४ उत्तरार्द्ध
१०. वही १८।४४ पूर्वार्द्ध
११. वही १८।४३
१२. गीता १८।४२

[टिप्पणी—इस श्लोक में गीताकार ने ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म-कर्म और ब्रह्म-कर्म-फल इन तीनों का एक साथ समावेश किया है। साधारणतः तप स्थूल देह, दम (दमन) सूक्ष्म अर्थात् ऐन्द्रिय देह, तथा शम (शमन) कारण अर्थात् (मन+बुद्धि चित्त+अहंकारयुक्त) लिंग देह के निराकरण करने के साधन हैं। जब उपर्युक्त साधनों द्वारा मल-निग्रह कर लिया जाता है तभी 'शौच' (शुचिता) का फल मिलता है। सारांश यह है कि ब्राह्मण होना अत्यन्त कठिन काम है। वह नानी-दादी का खेल नहीं जैसा कि 'ब्रह्म-जानाति ब्राह्मणः' कहने वाले लोग समझा करते हैं।]

आत्म-विकास की इस श्रेणी पर पहुँचने वाले ब्राह्मण को सर्व ओर एकात्मीयता की वह अनुभूति होने लगती है, जो ईशावास्योपनिषद् के निम्न मंत्र में प्रदर्शित की गयी है—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥"[१३]

यही भाव तुलसीदास जी ने निम्न पंक्तियों में व्यक्त कर दिखाया है—

"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।"[१४]
"कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके।"[१५]

तथा

"जो सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस।"[१६]

(६) **उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष :**—सारांश यह निकला कि मानव समाज की जन-संख्या को गुण-कर्म पर आधारित आत्म-विकास की दृष्टि से ही वर्ण-विभाग की स्थापना की गयी है, जैसा कि गीताकार ने कहा है—

---

१३. ईशा० उ० मं० ७
१४. मानस, उ० कां० १११ (ख)
१५. मानस, उ० कां० १११ (ख) १
१६. वही ७७ (ख) ५

"ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।"[१७]

इस विकास-क्रम के महत्त्व को समझ लेने के पश्चात् यह कहने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि हर वर्ण के मनुष्य को अपने ही विकास क्षेत्र में रहकर कर्म करते जाना चाहिए। वह एकदम छलांग मारकर या केवल गाल बजाकर उच्चवर्ण का अधिकारी उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार शारीरिक क्षेत्र (Physical plane) में किशोरावस्था-वाला वृक्षादि पर चढ़ने या नदी आदि में तैरने आदि की किसी दक्ष प्रौढ़ा-वस्था वाले के साथ बराबरी नहीं कर सकता, अथवा मानसिक क्षेत्र (mental plane) में कोई मैट्रिक का विद्यार्थी डॉ० ईन्सटन आदि की प्रयोगशाला में जाकर उनके जैसे प्रयोग करने की क्षमता नहीं रख सकता। यदि इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा की जाय तो निस्सन्देह उसके भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि किशोर सदा किशोर जैसे ही काम करता रहे। केवल यही अभिप्राय रहता है कि अपने-अपने अधिकार के अनुसार अपने-अपने क्षेत्रों में उत्तरोत्तर विकसित होते हुए क्रम-क्रम से आगे बढ़ते जाओ। यही आशय गीताकार ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥"[१८]

अर्थात् अपना धर्म (कर्म करने का स्तर) यदि अन्य लोगों के धर्म (कर्म-स्तर) से कम गुणवाला हो तो भी उसी के अनुरूप वर्तना श्रेयस्कर होता है न कि अन्यस्तरीय लोगों के धर्मानुरूप (स्तरानुरूप) वर्तना। पर-स्त ीय धर्म कितना ही अच्छे प्रकार से क्यों न किया जाय वह श्रेयस्कर नहीं

---

१७. गीता १८।४१
१८. गीता ३।३५

हो सकता। (अतः) अपने धर्म का पालन करते-करते ही मर जाना श्रेष्ठ होता है और पराये धर्म की नकल करना भयकारी होता है।

इसलिए गीताकार फिर दुहराता है और कहता है कि स्वभाव से नियत कर्म करने से कोई पतनकारी परिणाम नहीं भोगने पड़ते—

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥"[१९]

उक्त श्लोकों में 'धर्म' शब्द 'कर्म' का प्रतीक है यह **"स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः"**[२०] और **"स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धि विन्दति मानवः"**[२१] से, प्रकट हो जाता है। गीता के प्रारम्भिक श्लोक में जो "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" शब्दों का प्रयोग किया गया है उससे भी यही बात प्रकट होती है।

(७) **वर्ण-विभाग की सृष्टि में व्यापकता**—गहराई में जाने वाले तत्त्वज्ञों ने तो यहाँ तक सिद्ध किया है कि यह वर्ण-विभाग अपनी स्वाभाविकता के कारण सृष्टि के अन्य पदार्थों में भी देखा जाता है, जैसे काष्ठ में और मिट्टी में, पशुओं व पक्षियों में तथा `वी-देवताओं में। इस प्रकार के चार वर्णों के कुछ दृष्टान्त तैत्तिरीय संहिता के आधार पर स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'धर्म-विज्ञान' के प्रथम खण्ड में दिये हैं और अन्त में सिद्धान्त रूप से यह कहा है कि "त्रिगुणमयी प्रकृति में सर्वत्र ही त्रिगुणानुसार चार वर्ण कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं अस्पष्ट रूप से विद्यमान हैं।"[२२] यही अभिप्राय हमें गीता के **"चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः"**[२३] में प्रतीत होता है।

---

१९. वही १८।४७
२०. वही १८।४५ पूर्वार्द्ध
२१. वही १८।४६ उत्तरार्द्ध
२२. धर्म-विज्ञान, प्र० ख० (भारत धर्म मण्डल, शास्त्र प्रकाश विभाग, बनारस) पृ० ३०५, ३०६।
२३. गीता ४।१३

यदि इसमें सन्देह हो तो आप स्वयं अनुभव कर देख लीजिये कि एक ही वर्ग के पशु या पक्षी में कोई स्वभाव से सौम्य और कोई क्रोधादियुक्त असौम्य वृत्ति का होता है। दूर क्यों जाते हो अपने शरीरेन्द्रियों की रचना में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए आचार्यों ने मुख-मण्डल वा मस्तिष्क भाग को ब्राह्मण, हस्तभाग को क्षत्रिय, उदर भाग को वैश्य एवं चरण भाग को शूद्र कहा है। इसे निरी कल्पना न समझिये। इसमें वैज्ञानिक दृष्टि की सूझ है। आदर्श समाज व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिये मानव की शरीर-व्यवस्था का दृष्टान्त बहुधा इसीलिए दिया जाता है।

(८) **वर्ग और वर्ण में अन्तर:**—आधुनिक युग में—समाजवाद (socialism), साम्यवाद (communism) तथा और भी अनेक वाद इस धुन में लगे हुए पाये जाते हैं कि वर्गहीन (classless) समाज-व्यवस्था की स्थापना की जाय। परन्तु, विचार पूर्वक देखने से यह विदित हो जाता है कि "उनका श्रम, यदि किसी काल में सफल हो सका तो वह केवल लौकिक-असमानता वाले वर्गों को मिटा सकेगा, न कि वर्गों के अस्तित्व को। वर्ग तो स्वाभाविक विकास-क्रम के द्योतक हैं, इसलिए वे मनुष्य के मिटाये नहीं मिटाये जा सकते। उनके मिटाये जाने का अर्थ यह होगा कि मानो सब मनुष्य एक समान त्याग की उच्चतम कोटि पर पहुँच नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं, तथा जड़ से चेतन पदार्थ और चेतन पदार्थ से मानव योनि तक का विकास का भी अन्त हो चुका है। दूसरे शब्दों में सृष्टि गति-हीन (static) बन जावेगी, प्रगतिवान (dynamic) न रहेगी, परन्तु वैज्ञानिकों ने यह सिद्धान्त न तो कभी माना है और न वे कभी मान सकते हैं। समाज का जब से इतिहास है तब से तो यही पता लगता है कि हर स्थान में हर समय कुछ मनुष्य ऐसे रहे हैं जो स्वार्थ की आत्यन्तिक कुर्बानी कर सकते थे, और अनेक ऐसे रहे हैं जो स्वार्थ की फांस में फंसे रहते थे। इन दोनों वर्गों के बीच कुछ दूसरे लोग ऐसे भी रहे हैं जिन्हें मध्यम श्रेणी के कह सकते हैं। आज भी सब देशों में आपको यही स्थिति देखने को मिलती है। अतः सिद्धान्त, इतिहास एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से यह स्पष्ट है कि हर समाज में आत्म-

विकास की दृष्टि से उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणी के लोग रहते हैं। भविष्य में क्या होगा इसकी बात जाने दीजिये। हमारा विषय है, तुलसी-काल से संबंधित। तुलसी के समय भी उक्त श्रेणी के लोग थे। उन्हीं के बीच सामञ्जस्य की स्थापना करने के हेतु उन्होंने स्वाभाविकी वर्णाश्रम व्यवस्था की पुकार लगाई। यदि उनकी इस पुकार को देख कोई उन पर साम्प्रदायिकता का दोषारोपण करने का साहस कर सकता है तो महात्मा गांधी पर भी वही दोष सहज ही लगाया जा सकता है, क्योंकि वे भी वर्णाश्रम-व्यवस्था के पक्षकार थे। परन्तु ऐसा करने का दुस्साहस, हमारी समझ में कोई नहीं कर सकता। जो लोग इस अनिवार्य स्वाभाविकी वर्णाश्रम की यथार्थता को न समझ केवल यह जानते हैं कि उसकी रचना प्राचीन भारतीयों ने समाज की कार्यप्रणाली को व्यवस्थित रूप से चलाने के हेतु कर ली थी वे ही तुलसी के—प्रशंसक होते हुए भी उन्हें भोंड़ा आदि कहने का दुस्साहस कर सकते हैं। जैसा कि डॉ० राजपति दीक्षित के वाक्यों में व्यक्त है। उन्होंने कहा है "जो भी हो, समाज किस प्रकार चलता रहे और उसमें सहसा उपप्लव होकर विनाश की स्थिति न उत्पन्न हो, इसलिए तुलसी ने प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन किया था। उनका ऐसा समर्थन कहीं-कहीं उस सीमा तक भी पहुंच गया है जो भोंड़ा, साथ ही खटकने वाला भी प्रतीत होता है, इसमें सन्देह नहीं।"[२४]

(२) ब्राह्मण-शूद्र-विषयक दोषारोपण और उनका निराकरण :-- उक्त विद्वान् लेखक को तुलसीदास द्वारा किया गया केवल वर्णाश्रम-समर्थन ही नहीं खटका, किन्तु उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि तुलसीदास जी ब्राह्मणों के अधिक प्रेमी थे और शूद्रों के अधिक निन्दक। उन्होंने लिखा है कि "तुलसीदासजी ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की है, उनके माहात्म्य का बार-बार

---

२४. तुलसी और उनका युग, पृ० ५९-६०

[नोट—इस उद्धृत वाक्य में 'समाज' शब्द से लेखक का अभिप्राय सम्भवतः 'हिन्दू समाज' से है।]

उल्लेख किया है। इतना लिखा है और ऐसा लिखा है कि यदि कोई उन्हें पण्डे-पुजारियों का वकील कह बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। पर ऐसी बात है नहीं।....तो भी इस विषय पर उनके कुछ कथन असमर्थनीय हो जाते हैं तथा कहीं-कहीं शूद्रों की निन्दा भी इसी कोटि में आ जाती है।"[२५] यह एक सौम्य-चित्त आलोचक की शिष्ट भाषा है। परन्तु इससे कहीं अधिक कठोर भाषा का प्रयोग रजनीकान्त शास्त्रीजी ने किया है। उनका कहना है कि "रामचरितमानस के निष्पक्ष तथा शान्तिपूर्ण अध्ययन से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि उसके रचयिता के हृदय में जातीय-राग-द्वेष (communalism) कूट-कूट कर भरा हुआ था। उनके नस-नस में ब्राह्मण जाति के लिये एक सीमा रहित अनुराग, पर शूद्र जाति के लिये एक वैसा ही द्वेष व्याप्त हो रहा था जो उनके जैसे एक राष्ट्रीय महाकवि के लिये सर्वथा अनुचित था। उनके ब्राह्मण-पक्षपात की तो व्याख्या लग सकती है, पर उनकी शूद्र-घृणा की नहीं।"[२६]

तुलसीदास जी के जिन कथनों को लेकर आलोचकगण उन पर उक्त दोषारोप करते हैं वे प्रायः वही हैं, जिनका उल्लेख मानस मीमांसा में उसके विद्वान् लेखक ने किया है। वे ये हैं—

पूजिय विप्र शील गुण हीना, शूद्र नाहिं गुण ज्ञान प्रवीना।
विप्र वंश की अस प्रभुताई, अभय होय तो तुमहिं डराई।
शापत ताड़त परुषकहन्ता, विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।
शूद्र द्विजहिं उपदेशहिं ज्ञाना, मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।
शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना, बैठि बरासन कहहिं पुराना।
ढोल गँवार शूद्र पशुनारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।
जे वरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई घर सम्पतिनासी, मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी।

---

२५. तुलसी और उनका युग, पृ० ६०-६१
२६. मानस मीमांसा, पृ० २९९-३००

ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नसावहिं।

वादहिं शूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हतें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि॥इत्यादि"[27]

'इत्यादि' कहने से लेखक का अभिप्राय है कि उक्त कथनों के अतिरिक्त इस प्रकार के अन्य कथन और भी हैं। परन्तु उन्होंने बाद में केवल एक का उल्लेख और किया है, जो यह है—

"भए वरन संकर सकल, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप दुख पावहिं, भय रुजसोक वियोग॥"[28]

उक्त दोषारोप का निराकरण करते समय मुझे दुःख है कि मैं विस्तार भय के कारण अपने सम्पूर्ण विचारों को पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत नहीं कर सकता। फिर भी उन्हें संक्षिप्त रूप में रखता हूँ।

(क) तुलसी ने 'ब्राह्मण' शब्द नहीं कहा—उक्त पंक्तियों में तुलसी दास जी ने 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया। उन्होंने केवल 'विप्र' और 'द्विज' शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ टीकाकार तथा आलोचक 'ब्राह्मण' लगाकर हमारी अल्पमत्यानुसार तुलसी पर व्यर्थ टीका-टिप्पणी करके उन्हें दोषी बताने की भूल करते हैं। अतएव अब हमें 'द्विज', 'ब्राह्मण' और 'विप्र' शब्दों की व्याख्या कर यह देखना चाहिये कि क्या उनमें कोई शास्त्रीय भेद है, जिसके कारण मानस में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग केवल एक स्थान को छोड़ जिसके विषय में आगे उल्लेख किया जायगा, कहीं नहीं किया गया, या कि उनमें कोई भेद नहीं है, बल्कि तुलसीदास जी ने जान बूझकर मानस को सर्वजन-प्रिय बनाने के अभिप्राय से प्रचलित

---

२७. मानस मीमांसा के पृष्ठ ५७ पर उद्धरित (निम्नांकित रेखायें मेरी हैं)

२८. मानस मीमांसा के पृष्ठ ३११ पर उद्धरित (निम्नांकित रेखायें मेरी हैं।)

द्रोहात्मक 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं समझा, क्योंकि उस समय भी ब्राह्मण-अब्राह्मण के बीच एक प्रकार से उसी प्रकार का मनोमालिन्य विद्यमान था जैसा कि दक्षिण भारत में गांधीकाल में था और अभी भी है।

(ख) द्विज, विप्र और ब्राह्मण में शास्त्रीय भेद—मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार इन तीनों शब्दों के भावार्थ और इसलिये शब्दार्थ भी, एक समान नहीं हैं। तीनों पृथक्-पथक् भाव के द्योतक हैं।

यह एक अनुभव-सिद्ध बात है कि हर समाज में शिक्षा की दृष्टि से सर्व प्रथम दो वर्ग होते हैं, एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित। प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली आजकल जैसी केवल बौद्धिक और शारीरिक नहीं रहती थी अपितु वह अध्यात्म-प्रधान थी। अतः उस दृष्टि से वहाँ के ये दो वर्ग थे, सांस्कृत और असांस्कृत। सांस्कृत 'द्विज' संज्ञा से जाने जाते थे, और असांस्कृत 'शूद्र' संज्ञा से। 'द्विज' का अर्थ होता है 'द्विजन्मा' (turic born)। एक जन्मदात्री तो माता होती है जो शरीर को उत्पन्न करती है और दूसरा जन्मदाता गुरु होता है जो मानवता को जन्म देनेवाला कहाता है। प्राचीन भारत में गुरु और शिष्य एक कुटुम्ब जैसे रहते थे। इसीलिये शिक्षालयों को गुरुकुल कहते थे। गुरुकुलों का पाठ्य-क्रम समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से सामाजिक तीन आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि के अनुकूल मूलतः तीन विभागों में विभक्त किया जाता था। अर्थ-व्यवस्था के हेतु दीक्षित शिष्य वैश्य, रक्षण-व्यवस्था के हेतु दीक्षित क्षत्रिय और अध्यात्म-व्यवस्था के हेतु दीक्षित ब्राह्मण कहलाते थे। इन्हीं तीनों को 'द्विज' कहा जाता था।[२९] अतः 'द्विज' का अर्थ सदा-सर्वत्र 'ब्राह्मण' कहना मूर्खता है, जैसा कि मानस के टीकाकार तथा आलोचक बहुधा किया ~~किया~~ करते हैं।

जिस प्रकार कालेज या विश्वविद्यालय की शिक्षा भावी जीवन का

---

२९. "मातुरंगे विजननं द्वितीयं मौञ्जि बन्धनात्।
ब्राह्मण क्षत्रिय विशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः वा॥—याज्ञवल्क्य स्मृति

एक प्रकार से शिलारोप कर देती है, उसी प्रकार गुरुकुलों की शिक्षा कर देती थी। यदि कोई विद्यार्थी विश्वविद्यालय से किसी विषय की एम० ए० अथवा डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त कर भविष्य में व्यवहार-जगत में तत्सम्बन्धी योग्यता न बढ़ावें और उसको जन-हित के हेतु कार्यरूप में परिणित न करे तो उससे समाज को क्या लाभ ! इसी तरह गुरुकुल में अथवा अन्यथा ब्रह्म-विद्या में दीक्षित ब्राह्मण से भी क्या लाभ यदि वह उसका प्रयोग उन्नत विधि से समाज में न करे। इस तरह से दीक्षित ब्राह्मण ब्राह्मण तो कहलाता ही रहेगा और उस सीमा तक सम्मानित भी उसी तरह बना रहेगा जिस तरह विश्वविद्यालय से प्राप्त उपाधि वाला बना रहता है, परन्तु वह उस ब्राह्मण से अत्यन्त निम्नस्तर का माना जायगा जो दीक्षित होने के पश्चात् अपनी विद्या की वृद्धि करता हुआ उसका प्रयोग समाज-हित-चिन्तन से करता है। ऐसा प्रगतिशील व्यावहारिक ब्राह्मण लोक-प्रियता को प्राप्त कर लेता है। है जिसके फलस्वरूप वह जनता की ओर से लोकमान्य, महात्मा आदि पदों से अपने आप विभूषित किया जाने लगता है। ऐसा ही आचरण-प्रधान ब्राह्मण विप्र कहलाने का अधिकारी है और वही केवल-विद्याप्राप्त ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय और पूज्य होता है।

'विप्र' शब्द का अर्थ भी हमें इसी ओर इंगित करता है। 'वि' व्यापकता अथवा विस्तार (Universility) का और 'प्र' आगे बढ़ना अथवा वर्धित होना (Forwardness) का अर्थवाची है। इसलिये 'विप्र' में दो भाव निहित हैं एक 'विश्व' का और दूसरा 'प्रगति' का। अतः जो ब्रह्म-ज्ञानी विश्व-हित में रत होकर ऐसे उन्नत पथ पर चले कि जिससे विश्व-सुख की वृद्धि हो उसे विप्र कहते हैं।[३०] इस प्रकार के ब्रह्माचरणीय ब्राह्मण

३०. 'विप्र' की जो व्यौत्पत्तिक व्याख्या मैंने की है, उसका उत्तर-दायित्व मेरी क्षुद्र बुद्धि ही पर है। उसमें इतना बल अवश्य है कि जिन कतिपय शास्त्रार्थियों से मुझे इस पर चर्चा करने का योग मिला, उन्होंने उसका विरोध न कर सहमति ही प्रकट की है।

को ही तुलसी ने महीसुर, महिदेव, ब्रह्मकुल, विप्र या विप्रवंश कहकर पूज्य वा प्रथमवन्दीय कहा है। इसी के पद या चरण-रज के लिये राम जैसे पुरुषोत्तम लालायित बताये गये हैं। अजी! और तो और स्वयं विश्वाधार भगवान विप्र-पद-चिन्ह से सुशोभित कहे गये हैं—'सुखर विलस द्विप्र पादाब्जचिन्हं'[३१]

तुलसीदास जी स्वयं के कथनों से यह विदित होता है कि वे ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण और ब्रह्म के आचरणों को करने वाले ब्राह्मण में भेद मानते हैं और आचरणशील ब्राह्मण को ही विप्र कहते हैं। केवल ब्रह्म-विद्या को जान लेने पर कोई विप्र नहीं बन जाता जैसा कि उनके इस व्यंगपूर्ण दोहा में व्यक्त है—

'जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि ॥'

फिर, कौन होता है, विप्र ? विप्र वह होता है, जो व्यवहार क्षेत्र में जन-समूह के प्रति उदार और उपकारी हो। यही बात उनकी निम्न चौपाई में दर्शाई गई है—

'सब उदार सब पर उपकारी। विप्रचरन सेवक नरनारी ॥'[३२]

[यहाँ पाठक हमारे द्वारा पूर्व में की गई 'पद' और 'चरण' की व्याख्या को ध्यान में रखें]

अब विद्याधर वामन भिड़े कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोष में 'द्वि' शब्द के अन्तर्गत 'द्विज' शब्द देखिये। उसके अर्थों में से दो ये हैं—(१) A man of any of the first castes of the Hindus (a Brahmana Kshatriya or Vaish'ya) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से कोई भी एक; और (२) Brahmana over whom the Sanskars or purificating rites are performed, अर्थात् वह ब्राह्मण जिस पर संस्कार अथवा शुद्धिकारक क्रियायें की गई हों।

---

३१. मानस, उ० कां० आदि श्लोक

३२. मानस, उ० कां, २१।७

'संस्कार' शब्द में 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कार' मूल संज्ञा है। इसलिये वह सद्कर्मों का द्योतक है न कि रूढ़िवादियों के समान केवल मंत्रादि को फूँकने या जल-कणों को छिड़क लेने का। अतः यह निश्चय हो जाता है कि 'द्विज' शब्द सामान्यार्थी और विशिष्टार्थी दोनों है। अतः उसका अर्थ प्रसंगानुसार उपरोक्त प्रकार से लगाना आवश्यक है। यद्यपि उक्त विद्वान कोश-कार की व्याख्या के अनुसार 'द्विज' शब्द उक्त दोनों प्रकार के ब्राह्मणों के लिये कहा जा सकता है, पर निरे 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग उपरोक्त सांस्कृत्य ब्राह्मण के अर्थ में करना गलत होगा। अतएव सांस्कृत्य ब्राह्मण निर्दर्शन या तो 'द्विज' शब्द ही से किया जा सकता है, अथवा तदर्थीय किसी दूसरे विशिष्ट शब्द से जैसे 'विप्र'। यही कारण प्रतीत होता है कि तुलसीदास जी ने भी विप्र-भाव को प्रकट करने के लिये कहीं-कहीं 'द्विज' शब्द का भी प्रयोग किया है।

निष्कर्ष यह हुआ कि तुलसीदास समाज को सुव्यवस्थित दशा में लाने के लिये प्रयत्नशील थे। सुव्यवस्था के लिये समाज में अर्थ, रक्षण और अध्यात्म साधनाओं की आवश्यकता रहती है। इसलिये उन तीनों के अध्यव-सायियों का एक समान महत्व था। परिणामस्वरूप तुलसी ने 'द्विज' शब्द के द्वारा तीनों को समभाव से सम्मानित किया है, केवल ब्राह्मण ही की विशिष्टता नहीं दिखाई विशिष्टता यदि दिखाई है तो केवल ब्रह्म-विद्या में निपुण समाज-सेवी आचरणशील 'विप्र' के लिये।

अतएव हमारा विनम्र निवेदन तो यह है कि टीकाकार वा आलोचक गण यदि मानस में प्रयुक्त 'द्विज' एवं 'विप्र' शब्दों का अर्थ 'ब्राह्मण' न कर 'द्विज' व 'विप्र' ही किया करें तो तुलसी के विचारों के प्रति अधिक न्याय होगा। प्रसंगानुसार भी 'द्विज' का अर्थ लगाया जा सकता है कि वह त्रिवर्णीय भाव को दर्शा रहा है या केवल विशिष्ट रूप से 'विप्र' का। उदाहरणार्थ उस प्रसंग को देखिए जहाँ राम का लंका-विजय के पश्चात् पुष्पकविमान में सवार हो अयोध्या आना बताया गया है। वहाँ तुलसीदास जी कहते हैं—

"सकल द्विजन्ह मिलिनायउ माथा। धर्मधुरन्धर रघुकुलनाथा।"

यहाँ 'द्विजन्ह' से केवल ब्राह्मण का अभिप्राय कदापि नहीं है, क्योंकि राम से मिलने के लिये सब अवधवासी पहुँचे थे, जैसा कि उक्त चौपाई के पूर्व के दोहा में कहा गया है––

"आवत देखे लोग सब, कृपा सिन्धु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ, उतरेउ भूमि विमान।।"[३३]

इन सब लोगों में चारों वर्ण के लोग थे। उनमें से समस्त द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को वे नमन भी करते हैं, क्योंकि धर्म-धुरन्धर रघुनाथ जी उनको समाज-व्यवस्था के स्तम्भ समझते हैं।

जो भी हो, यह बात निश्चय है कि तुलसीदास ने जहाँ तक हम पता लगा सके हैं अपने ग्रन्थों में केवल चार स्थानों पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है, जैसा आगे बताया जायगा उसे प्रयोग में न लाने का एक कारण तो यही हो सकता है कि विप्र, ब्राह्मण और द्विज में शास्त्रीय एवं आर्थिक भेद है जैसा ऊपर कह आये हैं। और दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि तुलसी काल के पूर्व से ब्राह्मण-शूद्र विषयक कुछ ऐसी जनोक्तियाँ और विचारधाराएँ प्रचलित हो रही थीं कि जिनसे जन-विद्रोह बढ़ रहा था वा जिसे पाटने के लिये कबीरादि सन्त अपने-अपने ढंग से लग्नशील थे। उक्त जनोक्तियों में तीन प्रमुख हैं, यथा (१) ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:, (२) जन्मना जायते ब्राह्मण; और (३) जन्मनाजायते शूद्र:।

इन जनोक्तियों पर सैद्धान्तिक विमर्श न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब ब्राह्मणों ने जन्म के आधार पर अपने आप पर ब्राह्मण की छाप और निम्नस्तरीय लोगों पर शूद्र की छाप लगाना प्रारम्भ कर घृणादि का बीज बोया तो उन निम्नस्तरीय लोगों ने 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:' कहकर अपने आपको उच्चस्तरीय सिद्ध करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। सच बात अनुमानत: यह प्रतीत होती है कि सर्वप्रथम 'जन्मना जायते शूद्र:' (जन्म से शूद्र होता है) का प्रचार रहा होगा। उसके द्वारा यह स्थिर

---

३३. मानस उ० कां०, ४ (क)

किया होगा कि जन्मकाल के समय सभी बालक शूद्र रूप (of low level) होते हैं। गुरू-दीक्षा प्राप्त करने पर ही वे उच्च स्तरीय बन सकते हैं। अतः इस सूत्र के मूल में समाज के समानभाव से शिक्षावृद्धि की महत्वाकांक्षा निहित है। कालान्तर से स्वाभाविकतः अथवा विद्वेष भावना से उत्तम-विकास के सैद्धान्तिक आधार पर जन्म से ब्राह्मण वर्ण और शूद्र वर्ण की उत्पत्ति का प्रश्न उठाया गया प्रतीत होता है। परन्तु हमारी समझ मे, इसकी तह में, सिद्धान्त नही किन्तु लौकिक विद्वेष है। यदि ऐसा न होता तो 'जन्मना जायते क्षत्रिय.' एवं 'जन्मना जायते वैश्यः' सूत्रों का भी प्रचार उसी प्रकार हुआ होता जिस प्रकार शूद्र और ब्राह्मण विषयक उक्त सूत्रों का हुआ।

अब यह देखिये कि तुलसी ने अपनी समस्त रचनाओ में केवल चार स्थानों पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है। इनके आने से भी हमारे इस निष्कर्ष मे कोई त्रुटि नही आती कि ब्राह्मण और विप्र में भेद है। वे चार स्थान ये है—

(१) मानस, अयो० का० १४६।३
(२) कवितावली, उ० का०, छन्द १०२
(३) गीतावली, वा० का०, पृ० २७१ पर
(४) वही „ पृ० २८२ पर [३४]

उनका विवरण और उन पर हमारी टिप्पणियाँ ये है—

(१) सुमन्त रामादि को बन भेज कर अवध लौटते है। विषाद से इतने विकल है जैसे मानो किसी ने गुरु, ब्राह्मण और गाय की हत्या कर डाली हो।

"पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुर बाँमन गाई।"

यहाँ 'बाँमन' शब्द सर्वमान्य जनोक्तियाँ विचार-धारा को ही प्रकट करने के लिये कहा गया है, न कि शास्त्रीय अर्थ मे।

---

३४. काशी ना० प्र० सभा से प्रकाशित, तुलसी ग्रन्थावली

(२) कवितावली उ० कां० छ० १०२ में तुलसी कलिकाल से सताये जाने पर उससे एक दन्त-कथा के आधार पर कहते हैं—

"जानि कै जोर करौ, परिनाम तुम्हैं पछितैहौ पै मैं न भितैं हौं।
ब्राह्मन ज्यौं उगिल्यो उरगारि, हौं त्योंही तिहारे हिये न हितैं हौं॥"

दन्त कथा यह है कि एक बार एक गरुड़ एक ब्राह्मण को लील गया, परन्तु जब उसे पीड़ा हुई तो ब्राह्मण को उगल देना पड़ा। यहाँ भी ब्राह्मण का प्रयोग शास्त्रीय रूप में नहीं है।

(३) तीसरे स्थान पर अर्थात् गीतावली पृ० २७१ पर जो ब्राह्मण शब्द आया है वहाँ तुलसी ने स्वयं खुलासा कर दिया है कि उनका अभिप्राय उन्हीं ब्राह्मणों से है जो वेदादि का पाठ कर सकते थे। प्रसंग है राज-जन्म का—

"ब्राह्मण वेद, बंदि विरदावलि, जब धुनि मंगल गान।
निकसत पैठत लोग पर सपर बोलत लगि लगि कान॥"

(४) चौथे स्थान कवितावली पृ० २८२ पर जो ब्राह्मन शब्द आया है वह निस्सन्देह विप्र तथा महिदेव के अर्थ में कहा गया है। पर वहीं उस ब्राह्मन की व्याख्या भी कर डाली है, जिससे कोई सन्देह उत्पन्न न हो। प्रसंग है रामादि भाइयों का बाल्यकाल। यहाँ उस ब्राह्मण विशेष का वर्णन है जो आगामी (भविष्य की बातें बताने वाला) बूढ़ो, बड़ा प्रमाणिक आदि है ये ही तो विप्र के गुण होते हैं। सच बात तो यह है कि वह संकर (सं + कर) ही थे।

"अवध आजु आगमी एक आयो।
× × ×
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
× × ×
नख सिख विलोकि विप्र तनु पुलक नयन जल छायो।
× × ×
सनमान्यौ महिदेव असीसत सानंद सदन सिधायो॥"

(ग) वर्णाधम और वर्णसंकर :—उपरोक्त विवेचन से यह ज्ञात हो गया होगा कि जब कोई आत्म-विकास के क्षेत्र पर विचरने वाला उच्चवर्गीय मनुष्य अपनी स्वाभाविकी उच्चशक्ति का दुरोपयोग कर निम्नस्तरीय कर्म करने लग जाय तो वह अधमवर्ण का, और जब कोई अपने स्वाभाविकी स्तर को छोड़े अन्यस्तर के कर्म करने लग जाय तो वह वर्णसंकर कहावेगा। वर्णाधम और वर्णसंकर की कसौटी वाह्य रोजगारी कर्म नही है। जब लोग वर्णाधम वा वर्णसंकर होने लगते है तब समाज का पतन होने लगता है और अन्ततोगत्वा अराजकता (chaos) फैलने की सम्भावना आ जाती है।

(घ) दोषाभासी कथनों में निर्दोष का स्पष्टीकरण :—अब वर्ण, आश्रम, ब्राह्मण, द्विज, विप्र शूद्र, वरणाधम, वर्णसंकर शब्दों की व्याख्या कर चुकने के बाद उन पंक्तियों का अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है जिनको देखकर विचारहीन पाठक तुलसी पर ब्राह्मणो के प्रति पक्षपात और शूद्रों के प्रति द्वेष भाव का आरोप करते है। मानस मीमांसा से जो उद्धरण हमने पूर्व में दिये है हैं बालकांड, अरण्यकाड, सुन्दरकाड तथा उत्तरकांड के है। वे इस तरह हैं वा० २८३।५, अर० ३३।१-२, सु० ५८।६ और ३० दोहा ९८-९९ के अन्तर्गत की ंक्तियाँ। इनमे से अर० ३३।१-२ प्रक्षिप्त प्रतीत होती हैं क्योंकि मानस का एक प्रक्षिप्त रहित अप्रख्यात 'मञ्जु संस्करण' हमने देखा है, उसमें उन्हें स्थान नही दिया। मान लिया जाय कि वे प्रक्षिप्त नही हैं, तब भी तुलसी के भावों पर कोई आँच नही आ सकती।

तुलसी के इस विप्र का सम्बन्ध जनता के साथ ठीक वैसा होता है जैसा किसी सद्गुरु का अपने शिष्यमण्डल के साथ अथवा किसी सहृदयी पिता का अपनी सन्तान के प्रति पाया जाता है। जिस प्रकार ये लोग सद्भावना से प्रेरित हो शिष्य या सन्तान को कभी-कभी कठोर वाणी या शापमय वाक्यों का प्रयोग करते है और इससे भी काम नही चलता तो ताड़ना का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार विप्र को भी कभी-कभी किसी-किसी जन के साथ करना आवश्यक होता है। इस कठोर व्यवहार के बावजूद भी ` पूज्य माने जाते हैं। इसीलिये कहा है "पूजिय विप्रशील गुण हीना।" परन्तु यदि

कोई केवल बौद्धिक बल में प्रवीण हो अर्थात् वाद-विवाद में निपुण हो और अध्यात्मोत्कृष्टता को न वर्तता हो तो वह पूजने योग्य नहीं होता। ऐसे प्रवीण मनुष्य को ही शूद्र कह कर संकेत किया गया है। इसलिये तुलसी ने जो कुछ विप्र वा शूद्र कह कर व्यक्त किया है वह शास्त्रसंगत और न्यायसंगत सत्य ही है। सुन्दरकांड वाली पंक्ति नारी-विषयक है, इसलिये उस पर नारी प्रसंग के समय ही विचारना उपयुक्त होगा। रही उत्तरकांड से उद्धरित की हुई पंक्तियाँ उनमें तुलसी ने कलि-वर्णन के बहाने तत्कालीन समाज की दुर्दशा का चित्र खींचा है। समाज में सब ओर भ्रष्टाचार चल रहा था। इसलिये उन्होंने सर्वप्रथम तो सर्वसमाज पर एकबारगी दृष्टि डाल 'पाप परायन सब नर नारी' तथा 'श्रुति विरोध सब नर नारी' कह कर सभी को लथेड़ा। फिर एक ही शब्द 'भूप-प्रजासन' द्वारा तत्कालीन अत्याचारी राज्यपद्धति तथा प्रजा की दुर्गति का दिग्दर्शन कराया। बाद में नर-वर्ग और नारी-वर्ग के अलग-अलग दोषों का उल्लेख किया जैसे 'सब नर काम लोभ रत क्रोधी' तथा 'गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी' इत्यादि। तदनन्तर आश्रम और वर्ण व्यवस्था की शोचनीय दशा का वर्णन मिलता है जिसमें वर्णाधमों वा वर्णसंकरों के विषय में कहा गया है, जैसे 'जे वरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच कोलकिरात कलवारा, (अर्थात् उच्चवर्णीय ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि निम्न स्तरीय काम-काज करने लग गये), तथा

'भए वरन संकर सकल, भिन्न संतु सब लोग' इत्यादि।

इसी तरह उन्होंने कौटुम्बिक स्थिति आदि पर कह द्विजों, विप्रों, शूद्रों आदि सभी पर लांछन की बौछार करना नहीं छोड़ा।

(ङ) ब्राह्मण-शूद्र-विषयक दोषारोप की विवेचना का सारांश:— सारांश यह है कि चहुँ ओर से परखने वाले समाज के समीक्षक इस तुलसी को, जिसने विप्र को 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वृषली स्वामी' कहकर बहुत ही नीच कह डाला है, यदि कोई कहे कि वह ब्राह्मण या विप्र का पक्षपाती और शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों का द्रोही था तो हम तो यही कहेंगे कि वह तुलसी को समझा ही नहीं।

(३) नारी-निन्दा का दोषारोप और उसका निराकरण:—

भाव वा प्रसंग की ओर सजग न रहने के कारण जिस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में कतिपय आलोचकों में भ्रम फैला हुआ है उसी प्रकार उनमें यह भ्रम भी प्रवेश कर गया है कि तुलसी का नारी-जाति से द्वेष था।

(क) दोष और निर्दोष निरूपकों के विभाग:—कुछ आलोचक ऐसे हैं जो खुले आम तुलसी को इस विषय में दोषी कहते हैं जैसे मिश्र बन्धु[३५] और रजनीकान्त जी शास्त्री।[३६] कुछ ऐसे हैं जो मध्य का मार्ग पकड़े हैं, अर्थात् प्रशंसा के साथ-साथ निन्दा-विषयक हलकी-सी छींटाकसी भी करते हैं, जैसे विज्ञ पं० रामचन्द्र शुक्ल[३७] और डा० राजपति दीक्षित।[३८] परन्तु तीसरे वे हैं जो तुलसी को निर्दोष सिद्ध करते हैं, जैसे पं० रामचन्द्र दुबे।[३९] हम स्वयं दुबे जी से भी अधिक दृढ़ और उच्च स्वर से यह कह सकते हैं कि तुलसी पर इस सम्बन्ध में कोई दोष नहीं लगाया जा सकता।

(ख) स्वाभाविक नियम के अधार पर हमारा मतै-निर्धारण:—हम अपने मत की पुष्टि उसी स्वाभाविकी नियम (the law of nature) पर आधारित करेंगे जिस पर वर्णाश्रम व्यवस्था अवलम्बित है। इस दृष्टि से, जहाँ तक हमें ज्ञात है अभी तक किसी आलोचक ने स्पष्टतः विचार नहीं किया। तुलसी ने जो कुछ जिस स्थल पर नारि-विशेष या नारि-जाति के विषय में कहा है वह सत्य-निष्पादन के रूप में कहा है। सत्य ही प्रकृति का अटल नियम है, यह हम सब जानते हैं। यह सत्य क्या है? वह है, द्वन्द्वात्मक गुण-दोषमय संसार। यह बात तुलसी ने मानस के प्रारम्भ में ही पाठकों को जतला दी है।

---

३५. देखिये मिश्रबन्धु कृत 'नवरत्न'।
३६. „ मानस मीमांसा, पृष्ठ २८४
३७. „ तुलसी ग्रन्थावली (खं० ३), पृष्ठ १२८ वा १३१
३८. „ तुलसी और उनका युग, पृष्ठ ७४-७५, ७६
३९. „ तुलसी ग्रन्थावली (खं० ३), पृष्ठ २२६

"कहहिं वेद इतिहास पुराना। विधि प्रपञ्च गुण अवगुण साना॥"[४०]

और

"जड़ चेतन गुण-दोषमय, विश्व कीन्ह करतार॥"[४१]

इन गुण-दोषों का स्वरूप जब जैसा परिस्थितियों का संयोग मिल जाता है तब तैसा बदलता रहता है, जैसा तुलसी ने कहा है—

ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग॥"[४२]

मनुष्य के विषय में इस 'कुजोग-सुजोग' का प्रभाव जताने के लिये उनकी निम्न पंक्तियाँ देखिये—

"विधिवश सुजन कुसंगति परहीं। फणि मणि समनिजगुण अनुसरहिं।"[४३]

तथा

"शठ सुधरहिं सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥"[४४]

अतएव यह समझकर कि सारी सृष्टि एक भगवान् राम की रची हुई है और स्वभाव से वह गुण-दोषमय है उन्होंने अभेद रूप से सभी की वन्दना की है—

"जड़ चेतन जगजीव युत, सकल राम मय जानि।
बंदहुँ सब के पद कमल, सदा जोरि युगपानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
बंदहुँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥"[४५]

---

४०. मानस बा० कां, ५।४
४१. वही ६ (पूर्वार्द्ध)
४२. वही २० (क)
४३. वही २।१०
४४. वही २।९
४५. वही बा० कां० ७ (ग) (घ)

परन्तु राम के बन्दे के नाते सब को, चाहे वे पुरुष हों या नारियाँ, नमन करना एक बात है और उनके गुण-दोषों का निरीक्षण कर उन्हें भला या बुरा कहना दूसरी बात है, क्योंकि यदि समाज-सेवी सन्त यह न करे तो वह कर्तव्यच्युत होगा ! इसलिये उसे हंस के समान बर्तना चाहिये

"संत हंस गुन गहहिं पय, परि हरि बारि विकार।"[४६]

यही तुलसी ने किया है। उनकी दृष्टि में नारि-जाति उतनी ही सम्मान और प्रेम की पात्र थी जितनी कि पुरुष जाति । अवगुण प्रकट करने में न उन्होंने पुरुष को छोड़ा और न नारि को। फिर प्रश्न उ ता है कि तुलसी के मत्थे यह नारी-निन्दा विषयक दोष क्यों और कब से मढ़ा जाने लगा।

(ग) नारी-विषयक दोषारोपण क्यों और कब से प्रारम्भ हुआ :— तुलसी ऐतिहासिक मध्यकाल (midieval age) में हुए थे। उस युग में सब देशों में साम्राज्यवाद का बोलबाला था। स्त्री जाति को कोई भाग राज-व्यवस्था में नहीं मिलता था। कुछ काल बाद यूरोप में पूँजीवाद का प्रसार होता गया। इसके बाद वहाँ पर प्रजातंत्र-पद्धति ने सिर उठाया और स्त्री वर्ग को धीरे-धीरे राज्याधिकार और सामाजिक जीवनचर्या में पुरुष-वर्ग की बराबरी पर लाने के हेतु विविध प्रकार की नीतियों का उद्भव होना प्रारम्भ हु ना। जैसे मताधिकार, तथा पुरुषों के संग-विचरण आदि। स प्रकार की लहर यरोप से भारत की ओर भी उन पाश्चात्य कौमों के साथ-साथ बढ़ती आई जिन्होंने मुगल बादशाहों के समय देश पर पदार्पण करना प्रारम्भ किया। इन कौमों से सम्पर्क बढ़ा; और फिर अंग्रेजी राज्य जम गया। उनसे सुहबत बढ़ी और अंग्रेजी शिक्षा तथा साहित्य का प्रसार हुआ। प्रजा-तन्त्र के नाम पर प्रत्येक क्षेत्र में समानाधिकारिणी के नारों की उठी हुई गूँजों ने पुरुष और नारियों के मन को प्रभावित किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान के नर-नारी प्राकृतिक अन्तःकरणीय गति-विधि से विमुख होते गये और उन वाह्यडाम्बरों में भ्रमण करने लगे जिनमें उन्हें स्वातंत्र्य

---

४६. वही ६ (उत्तरार्द्ध)

की प्रतीति होने लगी। हमारे अर्द्धाङ्गि-अर्द्धाङ्गिनी पति-पत्नी-सेवा तथा गृह-लक्ष्मीत्व आदिवाले उच्चादर्शों से मुड़कर कामवासनाओं से भरे हुए बराबरी के दायरे वाले चरित्रों में आनन्द दिखाई देने लगा। जब पश्चिमी संगति, साहित्य और विचारधारा ने हमारे आध्यात्मिक-आन्तरिक दृष्टिकोण को धुंधला बनाना प्रारम्भ किया तभी से हम पाश्चात्य आलोचना-विधि का आश्रय ले तुलसी की नारि-विषयक समालोचना को नारि-निन्दा के रूप में देखने लगे, और फिर मची एक के बाद दूसरे की लड़ैया-पुकार। उदाहरण स्वरूप 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने यह लिख डाला है कि "गोस्वामी जी की माता जी इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और अपनी स्त्री से अप्रसन्न हो गये थे। इनके वैरागी होने के कारण उच्चश्रेणी की स्त्रियाँ इन्हें नहीं मिलती थीं। और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को इधर-उधर देखते होंगे, अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव न था। यही कारण है कि उनकी निन्दा की है। परन्तु फिर भी ऐसे महात्मा और महा कवि की इतनी प्रचण्ड निन्दा करना अनुचित था।" मिश्र बन्धुओं के उक्त विचार कतिपय यूरोपीय विद्वानों द्वारा निर्धारित किये गए उन अनुसन्धानों पर आधारित प्रतीत होते हैं, जिन्हें हमने पूर्व में सदोष बताने का प्रयास किया है। जो भी हो, मिश्रबन्धुओं की इस विचार-धारा ने तुलसी के अन्य भावी आलोचकों पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

(घ) तुलसी की नारी-विषयक अनुभूति—जब ये आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि तुलसी का विवाह हुआ, सन्तान हुई और गृहस्थ काल में कुछ दिनों तक रहने के बाद ही वे वैरागी हुए तो मिश्रबन्धुओं को अनुभूति-हीनता वाली तर्क को टिकने का अवकाश नहीं मिलता। फिर वैरागी के दर्शन करना तो सभी श्रेणी की स्त्रियाँ अहोभाग्य मानती हैं, और उन्हें इस हेतु अवकाश भी मिलता होगा, क्योंकि तुलसी समाज में विचरने वाले सच्चे वैरागी कहे गये हैं न कि जंगल में जाकर रहने वाले। वे देशाटन, करते थे और तीर्थाटन भी तथा राम-कथा करना तो उनका मुख्य उद्देश्य था ही। उच्च राज्य कर्मचारी उनसे मिलते थे और मीराबाई जैसी श्रेष्ठ स्त्रियाँ

उनसे पत्र-व्यवहार भी किया करती थीं। एक अंग्रेज विद्वान ने भी यही लिखा है कि "इन्हों (तुलसी) ने संसार का स्वयं निरीक्षण और मनन किया था। इन्हें केवल साधु समझना भूल है। यह वह मनुष्य थे जिन्होंने जीवन यात्रा की थी।...इन्होंने विद्वानों के लिये नहीं पर अपने सभी स्वदेशवासियों के लिये लिखा है, जिन्हें जानते थे, (क्योंकि) ये उनमें रह चुके थे, उनसे भिक्षा ली थी, उनके साथ प्रार्थना की थी, उनके सुख और दुःख के साथी हुए थे।"[४७]

(ङ) तुलसी की नारी-विषयक धारणा :—"नारी के सम्बन्ध में उनकी अनुभूति और धारणा अच्छी नहीं थी" इस प्रकार की आलोचना करने वालों से जब यह पूछा जाता है कि फिर कौशल्या आदि का उत्कृष्ट चित्रण कैसे हो गया तो वे उन्हें 'अपवाद मात्र और वैयक्तिक'[४८] कहकर भाग निकने की चेष्टा करते हैं,और चट से 'राम' पर आकर यह तर्क करने लगते हैं 'कि ौशल्यादि की प्रशंसा तुलसी ने केवल "राम के नाते' अथवा 'उपास्य राम के परिवार से सम्बद्ध'[४९] होने की बात को निबाहने के लिये की है। यदि केवल यही बात है तो इनसे पूछा जाय कि आखिर उस प्रकार के चित्रण करने की अनुभूति कहाँ से आई और फिर यह भी पूछा जाय कि वालि की पत्नी तारा, रावण की पत्नी मंदोदरी तथा दासी त्रिजटा का राम परिवार से क्या सम्बन्ध था जो उनका चरित्र-चित्रण इतना ऊँचा किया जा सका, सच तो यही है कि तुलसी राम के अनन्य भक्त थे। वे चाहते थे कि सारा समाज उनका अनुशीलन कर अथवा उनका भक्त बन कर समाज में वर्ते ? इसी धारणा को लेकर उन्होंने मानस की रचना की है,

---

४७. डॉ० सर जार्ज ए० ग्रियर्सन कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक निबन्ध, जिसका हिन्दी अनुवाद 'तुलसी ग्रन्थावली खंड ३' में प्रकाशित किया गया है।

४८. मानस मीमांसा, पृ० ४३

४९. तुलसी और उनका युग, पृ० ७४

और इसी कसौटी पर उन्होंने मानस के समस्त पात्रों को, चाहे वे पुरुष हों या स्त्रियाँ, कसा है। और तो और पक्षी और बानर जाति के कहे जाने वाले व्यक्ति भी उसी कस के द्वारा परखे गये हैं। चाहे राम का क्षत्रिय स्तर वाला मानव परिवार हो, चाहे उससे निम्नस्तर वाला वालि-सुग्रीव का बानर परिवार हो या चाहे, निम्नस्तर रावण का राक्षस परिवार हो सबों में आपको दो प्रकार के चरित्र दिखाये गये हैं—एक वे जिनमें पदार्थ-तत्व की अधिकता तथा राम-तत्व की कमी है और दूसरे वे जिनमें राम-तत्त्व की प्रधानता एवं पदार्थ-तत्त्व की स्वल्पता है। तुलसी का यह राम-तत्त्व यह राम-परिवार क्या है? वह है **ईश्वरीय गुणों का वह समूह जो मानवता के रूप में मानवों में अवतरित या प्रकट होता है।** इसी सद्‌गुण-समुच्चयरूप राम को मानव-जीवन का आधार बताने के अभिप्राय से तुलसी ने 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थलों पर पत्नी-पति, माता-पुत्र, सेवक-स्वामी आदि भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों से भिन्न-भिन्न वाक्य रचनायें की हैं, जिनमें से व्यापक अर्थ-वाली केवल दो निम्न पंक्तियाँ दृष्टान्त स्वरूप देखिये—

"राम प्रान प्रिय जीवन जी के, स्वारथ रहित सखा सबही के।
पूजनीय प्रिय परम जहाँते, सब मानि अँहि राम के नाते।"[५०]

यह है तुलसी के 'राम के नाते' का दरवाजा, जो सब के लिये सदा एक समान खुला रहता है जिसका स्पष्टीकरण कितने खुले शब्दों में तुलसी ने कर दिया है—

"पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥"[५१]

जो यह कहते हैं कि बेहतर होता यदि तुलसी वीरांगणाओं तथा अन्य

---

५०. मानस, अयोध्या कां०, ७३।६-७
५१. वही उ० कां० ८७ (क)

विदुषियों का चित्रांकन करते उन्हें यह सोचना चाहिए कि तुलसी का उद्देश्य कुछ और ही था। उनका उद्देश्य था हर नर और नारी ईश्वरीय भाव से युक्त होकर आचरणशील बन समाज में मानवता को बर्तें और जागृत करें। इसी को उन्होंने आदि से अन्त तक समस्त पात्रों का यथायोग चित्रण कर निबाहा है।

(च) तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव :—स्त्रियों के विषय में तुलसी ने जो कुछ लिखा है उसकी जाँच अभी तक हमने उनकी भावना की दृष्टि से की। अब तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की ृष्टि से जाँचा जाय समाज-सुधारक लेखक की रचना को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का आरसी कहा जाता है, सो ठीक ही है। मध्ययुगीन सार्वदेशीय नारी-जगत् के प्रति जो भावनाएँ उस समय रहती थीं वे प्रायः वैसी ही थीं जैसी कि तुलसी के चरित्र-चित्रणों में पाई जाती हैं। जगत्-प्रसिद्ध महाकवि शेक्सपियर तुलसी का समकालीन था। उसके नाटकों को देखिए तो विदित होगा कि उसने भी नारियों के चरित्र-चित्रण करने में उनके दूषणों का भंडाभोड़ किया है। 'किंग लियर' की गोनरिल (Goneril) और रीगन (Regan) नाम की दो पुत्रियाँ 'एक से एक बढ़कर हर प्रकार की हृदय-शून्यता और नीचता।' Rivals in every kind of heartlessness and depravity)[५२] अपने दयालु पिता के प्रति दर्शाती हैं। 'हेमलेट' की माता अपने पति की हत्या कराने में योग कर अपने देवर को राज्यासीन कराती है। 'मेक`थ' और 'कारनेलिया' तो पं० रामचन्द्र दुबे के शब्दों में, "साक्षात राक्षसी या दानवियाँ हैं, जिनकी तुलना में मंथरा और सूर्पणखा भी देवी कही जा सकती हैं।"[५३] शेक्सपियर का यह कथन 'Fraility ! Thy name is woman' (चंचलता ! तेरा ही नाम तो स्त्री है) जनोक्ति के रूप में प्रसिद्ध ही है। इससे भी अधिक

---

५२. K. Deighton 5 Introduction to 'King lear', P. ix

५३. तुलसी ग्रन्थावली (खं० ३), पृ० १८४

देखना हो तो 'मिस्ट्रीज़ आ् दी कोर्ट आव लंदन' नामक बृहद ग्रन्थ अथवा तत्कालीन मुस्लिम जीवन वा साहित्य पर दृष्टि डालिए। पर इस विदेशी साहित्य से तुलसी का मन प्रभावित नहीं था। वह प्रभावित हुआ भारतीय नारियों की दुर्व्यवस्था देखकर। नारियाँ मुसलमानों की काम-लिप्सा की खिलवाड़ बन रही थीं। हरमखानों विलासनियों के बाजार गरम थे। हिन्दुओं की बहू-बेटियों, सधवाओं या विधवाओं की मान-मर्यादा पापमय कुदृष्टि ों, पाशविक बल तथा छल-छिद्र युक्त पाखंड़ों से सदैव खतरे में रहती थी। और भी इसी तरह के कई दुष्कर्मों को तुलसी ने देखा, जिनका विस्तार पूर्वक वर्णन पाठकों को आठवें अध्याय में मिलेगा। इसलिए संयम और अभय का पाठ पढ़ाते हुए काम-लिप्सा से बचाने के लिए तुलसी ने पुरुष और स्त्री दोनों को प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार के वाक्य प्रसंगानुसार सुनाना एक समाज-भक्त के नाते अपना अनिवार्य कर्तव्य समझा। इसीलिए उन्होंने सीता और रावण का एक ऐसा प्रसंग प्रस्तुत किया कि जिससे जंगल तक की एक अकेली झोंपड़ी में रहने वाली असहाय्य अबला भी बली से बली आततायी की काम-लिप्सा से अपने सतीत्त्व वा धर्म का रक्षण करने का पाठ सीख सकती थी। अभय-साधना की आवश्यकता तो आपत्ति-काल ही में पड़ती है। इसलिए ऐसा क्यों न किया जाय कि ऐसा आपत्ति काल ही क्वचित आ पावे। इसी दृष्टि से तुलसी ने यह कहकर सचेत किया कि अति स्वतंत्रता नारि के लिये हितकर नहीं—

"महावृष्टि चलि फूट क्यारी, जिमि स्वतन्त्र होंहि बिगरहिं नारी।"[५४]

स्वतंत्रता-प्रिय पुरुष-नारी सभी तुलसी के इस कथन को देख, जिसमें 'महा-ृष्टि' शब्द का बड़ा महत्व है, व्यर्थ ही उन पर दोषारोप करने बैठ जाते हैं।

(छ) दृष्टान्तवत् प्रसंगानुसार भ्रम का निराकरण :—अतएव अब हम दृष्टान्तवत् तुलसी के कथनों का निरीक्षण प्रसंगों के दृष्टिकोण से

---

५४. मानस, किष्किन्धा कांड, १४।७

करके बतावेंगे। कि उनके आधार पर तुलसी को दोषी ठहराना महान भूल है। ये कथन हम मानस मीमांसा में से ले रहे हैं क्योंकि उसी के लेखक महोदय ने अधिक से अधिक कथनों का उल्लेख किया है। इनपर विचार कांड-क्रम से करना सुविधाजनक होगा। प्रसंग के अन्तर्गत छः बातों का समावेश होता है। (१) कौन, (२) किससे, (३) क्या, (४) क्यों, (५) कब, और (६) किस स्थान पर कह रहा है, ये छहों बातों पर ध्यान रखकर आलोचकों को आलोचना करना चाहिए। इन पर ध्यान न रखने के कारण कई एक आलोचक मानस में आये हुए प्रायः सभी नारी-विषयक कथनों को तुलसी द्वारा निर्धारित सिद्धान्त मानकर उन पर दोष मढ़ने लगते हैं।

बालकांड

(क) सती कीन्ह चहत हहुँ दुराउ। देखहु नारि-सुभाउ प्रभाउ ॥(५२।५)
(ख) कीन्ह कपट मैं संभुसन, नारि सहज जड़ अज्ञ। (५७ क)
(ग) जदपि जोषिता अनअधिकारी। दासीमन क्रम बचन तुम्हारी ॥१०९॥
(घ) अब मोहि आपनकिंकरिजानी। जदपि सहज जड़ नारिअयानी॥११९॥

इन क्तियों को देख निन्दा के प्रतिपादक आलोचक कहते हैं कि तुलसीदास ने नारियों को सहज ही अर्थात् स्वभाव से जड़, अज्ञ, छल-कपट करने वाला कहा है। तथा उन्हें सभी अधिकारों से वंचित कर मन-वचन-कर्म से पुरुषों की दासियाँ बना दिया है।

प्रसंग है सती और शिव का। न तो शिव हम-तुम जैसे पुरुष हैं और न सती हम-तुम जैसी नारी। शिव है 'कल्याण' की प्रतिमा, और सती है 'प्रकृति' की प्रतिमा। कल्याण बिना निर्दूषित प्रकृति के प्राप्त नहीं होता। प्रकृति का दूसरा नाम माया है, और माया की गणना शास्त्रों में नारी-वर्ग में की गई है। तुलसीदास जी भी यही कहते हैं—

"माया भगति सुनहु तुम दोउ, नारि वर्ग जानइ सब कोउ।"[55]

---

५५. मानस, उ० कां० ११५ (ख)।२

प्रकृति (माया) को जड़, अज्ञ आदि शास्त्रीय परंपरागत उपाधियाँ दी जातीं हैं। यदि सती स्वयं अपने मुख से प्रायश्चित्त के रूप में अपने से उच्चस्तरीय स्वामी के सन्मुख अपनी हेयता प्रकट करती हैं तो इसमें तुलसी को दोष देने का कोई कारण ही नहीं दिखाई देता। छोटा और तिसपर दोषी तो बड़े के सामने सदा अपने आपको छोटा वा दोषी बताता ही है।

अयोध्या कांड

(ङ) साँच कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई॥
(४६।७-८)

(च) काह न पावक जरि सकै, का न समुद्र समाय।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय॥ (४७)

(छ) विधिहु न नारि हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन सानी॥
(१६१।४)

राम के तिलक की तैयारी हो रही थी। अयोध्या के सब नर-नारी प्रफुल्लित थे। एकाएक सुना कि कैकेयी जो राम को प्राणों के समान चाहती थी, राम को वनवास भेजने के लिए तुल बैठी है। जनता में आश्चर्य युक्त तहलका मच गया और व्याकुलता छा गई। (ङ) और (च) वाले पद्य इन्हीं लोगों की आहों भरे वे आपस में कहे गये विचार हैं, जो पूर्व काल से जनोक्तियों के रूप में प्रचलित थे, और (छ) वाला कथन अत्यन्त व्याकुल भाई भरत के मुख से निकला हुआ है। व्याकुलता के समय मानसिक सामञ्जस्य खो जाता है—क्रोध आ जाता है। उक्त कथन ऐसे ही समय पर कहे गए हैं। उनके कारण तुलसी पर नारी-निन्दा का दोषारोप करना मूर्खता है।

अरण्य कांड

(ज) सहज अपावनि नारि, पति सेवत शुभ गति लहइ।
जस गावत श्रुति चार, अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय॥ (५।क)

यह एक वृद्धा जंगल में अकेलीं जीवन व्यतीत करने वाली अनुभव-शीला, पति-भक्तिन अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसुइया (न+असूय=निर्द्वेष निर्दाग) का उपदेश है, उस अनुभवहीन सौन्दर्य की प्रतिमा नवयौवना सीता को जो जंगल में विचरने जा रही थी, जहाँ न जाने कब उसके पातिव्रत्य धर्म (सतीत्व) पर संकट आ पड़े। उसने संसार की स्त्रियों को पाँच विभागों में बताई, जिनमें से प्रथम चार को पतिव्रता कोटि की और पांचवीं को पतिवंचक-खोटी कहा।

उक्त सोरठा में 'सहज अपावनि नारि' के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) सभी नारियाँ स्वभाव से अपवित्र होती हैं, और (२) नारियाँ जो स्वभाव से अपवित्र हैं। प्रसंग के साथ पढ़ने से दूसरा अर्थ ही उपयुक्त है, क्योंकि जो स्त्रियाँ स्वप्न में भी पर-पुरुष को नहीं जानतीं और जो पर-पुरुष को भ्राता-पुत्र-पितृवत् देखती हैं उनका मन तो पवित्र रहता है केवल शेष तीन प्रकार की स्त्रियों के मन में पर-पुरुष के साथ आसक्ति रहती हैं। इसलिए उक्त सोरठा का भावार्थ यही है कि जिन स्त्रियों का मन दूसरों की ओर लगा रहने के कारण पूर्णतः पवित्र न हो उन्हें चाहिए कि वे अपना मन अपने पति में केन्द्रित कर दें। ऐसा करने में होने वाली प्रयत्नशील हलकी या क्षुद्र स्त्रियाँ भी सुगति को प्राप्त कर लेती हैं और वे ईश्वर को भी प्रिय होती हैं, उनका यश वेदों में गाया गया है। इस सोरठा में हमारे मनतव्य के अनुसार 'तुलसिका' तुल् धातु का रूपान्तर है। हलके से हलके अर्थात् पतिततम भाव को प्रदर्शन करता है। मन की पवित्रता तभी आ सकती है जब मन आसक्ति के स्थान से उचटा कर दूसरे स्थान पर लगा दिया जाय। यही इस सोरठा का मूलाधार है—

(झ) भ्राता पिता पुत्र उर गारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होहिं विकल मन सकहिं न रोकी, जिमि रवि-मणि द्रव रविहिं विलोकी।
(१६।५–६)

स्थानाभाव के कारण इस पर पूर्णरूपेण तो यहाँ नहीं कहा जा सकता, पर

इतना प्रत्यक्ष है कि वह राम-लक्ष्मण-सूर्पणखा के बीच का संवाद है। 'मन-वचन-कर्म' से पवित्र जीवन रखने वालों को विचलित करने का प्रयत्न करने वाली दुष्ट-हृदया तथा अहिनी जैसी दारुण कुल्टा सूर्पणखा पहुँचती है। वह उन्हें प्रथम नखरे-नाज करके रिझाती है और फिर भय दिखाती है। इसलिए उक्त भाव इसी प्रकार की कुल्टाओं के लिये कहा गया है न कि सभी के लिये। पहली पंक्ति में एक वचनीय 'नारी' शब्द को देखते हुए 'हो हिं' के स्थान में 'हो हि' उपयुक्त होगा।

(ञ) काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह की धारि।
तिन्ह महँ अति दारुण दुखद, माया रूपी नारि॥
से लेकर
अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सबदुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि॥
(४३वें दोहा से ४४वें तक)

विश्वमोहनी के द्वारा वरे न जाने पर कुछ दिनों बाद मन ठिकाने आने पर भक्त नारद रामजी के पास पहुँच कर उनसे पूछते हैं कि उन्होंने उस विवाह होने में क्यों अड़ंगा लगाया था। तब राम उन्हें ज्ञानी और भक्त का भेद बताते हैं और कहते हैं कि भगवान् और भक्त का सम्बन्ध माता और शिशु जैसा होता है इसलिए मैंने तुम्हें अनर्थ से बचाया। उक्त प्रश्न के कारण 'नारद-भक्त को राम ने नारी के प्रति मोह से बचाने के अभिप्राय से नारी में प्रतीतात्मक दोष बताये। सच बात यह है कि यहाँ पुरुष को ही निन्दनीय वा दोषी ठहराया गया है क्योंकि 'माया रूपी नारि' तो ज्यों की त्यों रहती है, परन्तु पुरुष ही पीलिया से ग्रसित रोगी के समान उसे कुछ का कुछ देखने लगता है। राम-लक्ष्मण-सूर्पणखा संवाद के समय नारी दोषी थी इसलिए वह दण्डनीय थी, यहाँ नारद दोषी थे इसलिए बन्दर की मुखाकृति आदि द्वारा वे दण्डनीय थे। अतः इसमें न समस्त नारी-जाति की निन्दा है न यौवनाओं ही की, वरन् पुरुषों का दृष्टिदोष है, जिसके कारण मूर्खता वश उस ओर दौड़ते हैं।

सुन्दर कांड

(ट) समय स्वभाव नारि कर साँचा, मंगल माहिं अमंगल राँचा। (३६।२)

ये शब्द शठ और अभिमानी पति रावण के अपनी धर्म-मार्ग की चेतावनी देने वाली पत्नी मन्दोदरी के प्रति व्यंग्यात्मक हैं न कि किसी सिद्धान्ती के सिद्धान्तमय।

(ठ) ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी। (५८।६)

तुलसी को दोषी बताने के लिये यह चौपाई बहुधा कही जाती है। समुद्र बहुत समझाने-बुझाने पर राम को मार्ग नहीं देता। तब राम उसे ताड़ना देने के लिये तत्पर होते हैं। यह देख शठ समुद्र घबड़ा कर कहने लगता है कि हम जैसे हठी मूर्ख जब ज्ञान की बातों से सन्मार्ग पर नहीं लाये जा सकें तो ताड़ना ही उचित होती है। यही भाव उक्त चौपाई में है। शठ कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ अपने से अधिक उच्चस्तीर महानुभाव को गुरू के रूप में कहता है कि हमें अपने सुधार की दृष्टि से गुरुजनों से दण्ड या ताड़ना पाने का अधिकार है। प्रसंग देखते नारी शब्द सभी नारियों का बोधक नहीं है बल्कि शठ-नारियों का द्योतक है। पशु-नारी कहा जाय तो और खुलासा हो जाय, क्योंकि सम्भव है तुलसी ने पशु को नारी का विशेषण रूप लिखा हो।

लंका कांड

(ड) नारिस्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुण आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया, भय अविवेक अशौच अदाया।
१५ (ब)।२-३

रामचन्द्र के गुप्तवाण से जब रावण के मुकुट और मंदोदरी के कानों के ताटंक गिर पड़ते हैं तो मंदोदरी एक बार फिर उसे समझाती है। परन्तु हठी वा अभिमानी रावण प्रलापी (शैतान) के समान (A deril can also cite scriptures) अचूक द्रष्टाओं अथवा कवियों के शब्द सुनाने इसलिए बैठ जाता है जिससे मंदोदरी पर उसकी बुद्धिमत्ता की धाक जम जाय और वह चुप हो जाय। उपर्युक्त कथन तुलसी-मत का द्योतक नहीं है

वरन् रावणीय वृत्ति के पतियों का आश्रयरूप शस्त्र है और तुलसी-कालीन समाज में नारी-विषयक प्रचलित मूर्खतापूर्ण धारणा का भी प्रतीक है।

उत्तर कांड

(ढ) पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अबल सहज जड़ जाती।
११४ (ख)।१६

यह वह संवाद है जहाँ काग भुशुंड जी गरुड़ के प्रश्न करने पर उन्हें ज्ञान और भक्ति के भेद को समझा रहे हैं। पूर्वा पर ध्यान देने से यह तत्काल प्रकट हो जाता है कि उक्त पंक्ति में 'पुरुष' ईश्वरवाची, और 'अबला' प्रकृतिवाची है, न कि मानव-पुरुष-वाची और मानव-नारी-वाची।

(ज) मानस में नारी की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक आक्षेप :—सच पूछा जाय तो तुलसी ने नारियों की अपेक्षा पुरुषों की निन्दा अधिक की है, इसलिए उन्हें आपत्ति उठाने का अधिकतर अवकाश है? उदाहरणार्थ केवल निम्न पंक्तियों ही को देखिए—

सब नर काम लोभ रत क्रोधी, देव विप्र श्रुति संत विरोधी।

× × ×

परत्रिय लंपट कपट समाने, मोह द्रोह ममता लपटाने।

× × ×

सबनर कल्पित करहिं अचारा, जाइ बरनि अतीति अपारा।

× × ×

कलिकाल बिहाल किये मनुजा, नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।

यदि विषयासक्त नारी के विषय में तुलसी ने यह कहा कि वह भ्राता, पिता, पुत्र आदि मनोहर पुरुषों को देखकर विकल हो उठती है, तो 'सब नर' के विषय में यहाँ तक कह डाला है कि वह बहिन वा पुत्रियों तक को नहीं मानता। 'मानत' शब्द के अन्तर्गत न केवल मानसिक विकलता आती है, वरन् शारीरिक दुर्व्यवहार भी आ समाता है।

(झ) तुलसी की नारी-प्रशंसा—

(१) **लक्ष्य-साधना की दृष्टि से** :—तुलसी का विषय है, ईश्वर-भक्ति। और ईश्वर-भक्ति है, प्रधानता अध्यात्म का विषय, न कि शरीर और मन की वृद्धि का। इसलिए उन्हें केवल उन्हीं पुरुष-स्त्रियों के चरित्रों की आवश्यकता थी जिनके देखने से एक ओर तो अध्यात्म-ह्रास का भयंकर चित्र आ खिंचे और दूसरी ओर आत्मोत्सर्ग की आनन्दमय झाँकी आ उतरे। ऐसे ही चरित्र आपको मानस में मिलते हैं।

(२) **चरित्र-चित्रणों की दृष्टि से** :—तुलसी ने जो चित्र नारी-चरित्रों के खींचे हैं उन्हें देखिए। एक ओर हैं कैकेयी, मंथरा तथा सूर्पणखा, जिनमें सामान्य नारी-निन्दा की प्रतीति होती है, और दूसरी ओर हैं सती, पार्वती कौशल्या, सुमित्रा, सीता, शवरी, अनुसुइया, तारा, त्रिजटा और मंदोदरी जिनमें आत्मोत्थान के लक्षण दर्शाये गये हैं। यदि चरित्र-चित्रणों की संख्या के आधार पर निर्णय करना है तो प्रशंसात्मक चित्रों की संख्या अधिक होने के कारण तुलसी को नारी-प्रशंसक कहना ही अधिक उपयुक्त है।

(३) **सिद्धान्त की दृष्टि से** :—परन्तु बहु-संख्यक चित्रों के आधार पर उक्त निर्णय निकालना तर्क संगत नहीं माना जाने योग्य है। इसलिए सिद्धान्त-दृष्टि से देखिए तो यह निर्विवाद सत्य है कि एक ही मानव की सच्चरित्रता, यदि उच्चकोटि की है तो वह लाखों की दुष्चरित्रता की अपेक्षा अच्छी होती है। अतः नारी-निन्दात्मक कुछ चरित्रों के आ जाने से न तो तुलसी और न मानस ही दोष के भागी हो सकते हैं जब कि उन्होंने जनता के सामने उच्चकोटि के प्रशंसात्मक नारी-चरित्रों का भी उल्लेख किया है।

(४) **व्यवहार दृष्टि से** :—तुलसी-कालीन समाज का दृश्य अपने सामने ले आइए और देखिए कि समाज किस अधोगति को प्राप्त हो रहा था। समाज आखिरकार नर-नारियों का ही समूह रहता है। इसलिए यदि आदर्श नर और आदर्श नारियाँ हो जायँ तो सारा समाज सर्व ओर से आदर्श बन जाये। इसीलिए तुलसी ने समाज के भिन्न-भिन्न अंगों के प्रतीक

भिन्न-भिन्न आदर्शों के साथ मूलतः आदर्श पति राम और आदर्श पत्नी सीता, का चित्रण किया। आदर्श चरित्रों का विशिष्ट रूप से प्रकाशन हो इसी विचार से उन्हें कुछ निम्नस्तरीय चरित्रों का भी वर्णन करना पड़ा, न कि किसी के प्रति द्वेष भावना से।

अतः यदि आत्मश्रेयात्मक कल्याण रूप धर्म और आत्महेयात्मक कलहरूप पदार्थवाद के बीच के सूक्ष्म भेद (subtle difference) को समझ यदि कोई मानस का अध्ययन करे तो उसे यह कहने का साहन न हो सकेगा कि "गोस्वामी जी कृत नारी-निन्दा का रूप सैद्धान्तिक है..... (और) केवल कौशल्या आदि कुछ एक स्त्रियों की प्रशंसा.....गोसाईं जी के नारी-जाति के प्रति सद्भाव के परिचायक नहीं हैं।"[५६]

---

५६. मानस मीमांसा पृ० २९८

: ६ :

तुलसी के मूल आदर्श पर आरोपित दोष और उनका निराकरण

तुलसी का मूल आदर्श:—क्रान्तिकारी सन्त का प्रथम लक्षण है, सबको समभाव से देखना। तुलसी की दृष्टि सब पर अभेद रूप से थी यह हम गत अध्याय में बता चुके। दूसरा लक्षण उसका होता है, जनता के सन्मुख निष्कलंक आदर्श को प्रस्तुत करना। तुलसी का मूल आदर्श था 'सीता-राम'। इस आदर्श के पात्र सीता और राम पर कुछ आलोचक दोषारोपण करते हैं। अतः इस अध्याय में उनका निराकरण करना आवश्यक है ताकि उनकी विशुद्धता पर कोई सन्देह न रहे और तुलसी की क्रान्ति सदोष न समझी जाये।

समीक्षक के ध्यानार्थ प्रधानतः पाँच प्रश्न :—मानस के किसी भी पात्र की समीक्षा करने के पूर्व, चाहे वह मूलादर्श का हो या सहचर्यादर्श का, समीक्षक का ध्यान निम्न पाँच प्रश्नों पर जाना अत्यन्त आवश्यक है—

(१) तुलसी ने किस उद्देश्य से ग्रन्थ रचा? समाज को सुख-लाभ हो।

(२) यह सुख कौन सा? आत्म-सुख।

(३) क्या आत्म-सुख-प्राप्ति के लिये त्याग अथवा संन्यास की आवश्यकता नहीं है?

(४) तब फिर क्या समाज से विरक्त होकर ही तुलसी क्रान्तिकारी बनना चाहते थे? नहीं, समाज में रहकर व्यवहार करते हुए संन्यासी के रूप में वे क्रान्तिकारी होना चाहते थे।

(५) क्या यह मानव के लिये सम्भव है, या निरा सिद्धान्त है?

सिद्धान्त है, पर निरा नहीं। यह सिद्धान्त-पथ है, जो हर पथिक को उसकी शक्ति के अनुरूप क्रमशः लक्ष्य के छोर तक पहुँचा सकता है।

इन बातों पर ध्यान रख जब आप मानस में वर्णित समस्त पात्रों पर दृष्टि डालते हैं तो विदित होता है कि उसमें निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक के कई लोकाचारी पात्र मिलते हैं। आत्म-पथ के इन सब पथिकों में से राम और सीता लक्ष्य के निकटतम पहुँचे हुए हैं। सच पूछा जाय तो आत्मा और प्रकृति का जो सम्बन्ध है, अथवा होना चाहिए, वही तुलसी ने समाज के नर-नारियों के समक्ष नर और नारी के भेष में आदर्श रूप से प्रस्तुत किया है।

सीता पर दोषारोपण और उसका निराकरण :—सीता पर अविवेक वश अदूरदर्शिता और दुराग्रह का केवल यह एक दोषारोपण किया गया हमें देखने को मिला है। उनका यह दुराग्रह दो बार हुआ। एक बार जब वे अयोध्या से राम के साथ वन गईं जिसके कारण राजा दशरथ के प्राण गये तथा कौशल्या आदि को वैधव्य भोगना पड़ा। दूसरी बार जब वे लक्ष्मण को कटुवचन कहकर पंचवटी आश्रम से उनकी इच्छा के प्रतिकूल राम की खबर लेने के लिये भेजती हैं जिससे सब ओर आपत्तियों के ढेर ले गये वा असंख्यों का रक्त-प्रवाह हुआ।[१]

यह तर्क है एक ऐसे महानुभाव का जिन्होंने हमारी, समझ में, धर्म-तत्त्व की यथार्थता को नहीं पहचाना। उन्होंने केवल परिणाम की कसौटी को अपनाकर यह दोषारोपण किया है, जबकि धर्म-द्रष्टा प्रधानतः साधना को देखता है। जिसे वे दुराग्रह कहते हैं वह यथार्थतः सत्याग्रह (सत्य का आग्रह) का रूप है, जिसके महत्त्व के विषय में कम से कम इस गांधी-युग के समय किसी को सन्देह की गुँजाइश नहीं है।

धर्म के दो रूप होते हैं, (१) सत्य धर्म अथवा अनवच्छिन्न धर्म और (२) आपद्धर्म अथवा दशा आदि के कारण अवच्छिन्न हो जाने वाला धर्म।

---

१. देखो मानस मीमांसा, पृ० १५३-१६४

सीता प्रथम प्रकार की धर्म-परायणा थीं। तुलसी ने उनका चित्रण उसी दृष्टि से किया है। कभी-कभी मनुष्य के सामने ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि उस समय अच्छे-अच्छे विद्वान् पंडितों को यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन-सा कर्म करना श्रेयस्कर होगा—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'[२] सीता के सामने उपर्युक्त दोनों बार ऐसी ही कठिन समस्याएँ आ खड़ी थीं। पर सत्य धर्म निष्ठा होने के कारण उन्होंने दोनों बार परिणामों की चिन्ता न कर अपना निर्णय ले लिया। पहली बार उन्होंने पति-पत्नी के सम्बन्ध को जिय-देह नदी-वारि, अथवा 'तनु-छाँह' जैसा समझ और नेह-नातों को 'तर निहुते ते ताते' जान बनवास ही जाना कर्तव्य समझा। उनका आग्रह पति के साथ जाने का किसी काम-वासनावश नहीं था, अपितु चौदह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी बन कर जंगल की यातनाओं को अपने पति के साथ भोगने के लिये था। दूसरी बार के आग्रह के द्वारा भी उन्होंने लक्ष्मण को तत्काल ही राम की खबर लेने भेजा। उस समय लक्ष्मण के साथ इतनी लम्बी तकरीर करने का कहाँ अवकाश था जितनी कि वाल्मीकि रामायण में बताई गई है और जिसका प्रमाण आलोचक महोदय ने अपनी पुस्तक में देकर तुलसी के संक्षिप्त वर्णन को उनकी एक यह चाल कही है कि उन्होने सीता की कटूक्तियों पर पर्दा डालना चाहा है। यदि विषयान्तर न होता तो हम विस्तारपूर्वक यह बताते कि मानस के पात्रों वा उसके लेखक की आलोचना करते समय वाल्मीकि रामायण अथवा किसी अन्य ग्रन्थ में दिये हुए तन्नामकीय पात्रों एवं लेखन शैलियों को आधारभूत मानना साहित्यालोचना की दृष्टि से निरर्थक और अन्यायसंगत होता है।

सारांश यह है कि सीता का इष्ट था स्वामी राम। वह इष्ट असाधारण काल में भी नहीं गया। उनका तन कुछ समय के लिये भले ही राम से विलग रहा, पर मन उनका सदा राम में लीन रहा। असाधारण काल

---

२. गीता ४।१६

पड़ने पर ही उन्होंने अनेकों यातनाएँ सहीं, लक्ष्मण जैसे सुहृद को कटु-वचन भी कह डाले, सास-ससुर की सेवा करना भी छोड़ा इत्यादि पर साधारण काल में उन्होंने इन लौकिक कार्यों को भी निबाहने में कोई कर्तव्यहीनता नही दिखाई, जो हर सत्य-निष्ठ पत्नी का परम कर्तव्य होता है। लंका-विजय के पश्चात् जब राम अयोध्या के राजसिंहासन पर विराजमान होते हैं तब सीता राजपत्नी होते हुए भी इन सब कार्यों को किस तरह करतीं हैं सो देखिए—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील विनीता॥

× ×

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी॥

× ×

निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥

× ×

कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥

राम पर दोषारोपण और उनका निराकरण :—राम पर निम्न पाँच दोषों का आरोप किया गया हमने देखा है—

(१) निरपराध मृगों का हनन और उनका मांस-भक्षण;

(२) लक्ष्मण के द्वारा सूर्पणखा के नाक-कान कटवाना;

(३) अपने स्वार्थ के लिये बालि का छिपकर बध करना;

(४) घर-फोरू विभीषण को अपने स्वार्थ के लिये अपनाना;

और (५) ना कुछ एक धोबी के बकने से गर्भवती सीता को निर्दयता-पूर्वक त्याग देना।

पाँचवें दोषारोपण का मानस से सम्बन्ध नहीं :—तुलसी ने स्वयं मानस में इस प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की। बाद में किन्हीं लोगों ने मानस के अन्त में एक लवकुश कांड और जोड़ दिया है, जिसमें बहुत-सी अनर्गल बातें पाई जाती हैं। चूँकि यह मानस के बाहर का प्रसंग है इसलिए उस

पर विचार कर समय को व्यर्थ नष्ट करना होगा। अतः वह छोड़ दिया जाता है।

रामचरित-निरीक्षण-सम्बन्धी प्रचलित पद्धति से हमारा मतभेद :— शेष चार प्रश्नों का सम्बन्ध मानस के राम से है। इनके उत्तर आपको कई स्थानों पर शंका-समाधानों के रूप में पढ़ने को मिले होंगे। हमने देखा है कि निर्दोष-पक्ष वाले जब किसी आरोपित दोष का खण्डन अन्य किसी दूसरे प्रकार से नहीं कर पाते तो 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' कहकर अपने पक्ष की पुष्टि करने लगते हैं। सदोष-पक्ष वाले इसे निर्बलता का प्रतीक कहकर उपहास-प्रदर्शन करते और कहते हैं कि ऐसा आदर्श कौन काम का जिसके कार्यों का अनुकरण साधारणतया न किया जा सके। यदि समर्थ को दोष नहीं, तो उनका कहना रहता है कि रावण बेचारा ही क्यों दोषी बनाया गया अथवा सबलों द्वारा निर्बलों का पीसा जाना क्यों दोष कहाता है? इस प्रकार के कटाक्ष चलते हैं इन लोगों के।

समर्थ (सम+अर्थ) में पशुबल अथवा बाहुबल का भाव नहीं है। उसमें भाव है, आत्मबल का जिसके आचारों में स्वाभाविकता समता रहती है, अथवा जिसके कर्म भेद-भाव वाली बुद्धि से प्रेरित नहीं होते वही समर्थ वा निर्दोष होता है। यही कारण है कि ईश्वर को समर्थ वा निर्दोष कहते हैं (निर्दोषं हि समं ब्रह्म)।[3] इसी स्वाभाविक समता के आधार पर तुलसी ने नारद के मुख से कुछ दृष्टान्त देते हुए यह कहलवाया है—

'समरथ को नहिं दोष गुसाईं, रवि पावक सुरसरि की नाईं।'[4]

यह सामर्थ्य स्वभाव से ही हो जैसा कि रवि आदि के उदाहरणों द्वारा प्रकट होता है। इसीलिए यह कहा 'शंकर सहज समरथ भगवाना'।[5] चूंकि यह समता युक्त स्वाभाविकी सामर्थ्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन

---

३. गीता ५।१९

४. मानस, बा० कां० ६८।८

५. वही ६९।३

है और कहीं अविवेकी वा अभिमानी उसकी आड़ में अनाचार न करने लगें इसलिए तुलसी ने उसी 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' वाली पंक्ति के नीचे चेतावनी के रूप में यह दोहा लिखा है—

"जौं अस हिसिषा करहिं नर, जड़-विवेक अभिमान।
परहिं कल्प भरि नरक महुँ, जीवकि ईस समान॥"[६]

जब शंकर सहज समर्थ हैं तो उनके इष्ट देव राम (सोइ मम इष्ट देव रघुवीरा)[७] ही सहज समर्थ होना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं।

तब फिर प्रश्न यह है कि क्या दशरथ-पुत्र राम के कृत्यों की समीक्षा भी उक्त आधार पर की जाने योग्य है? क्या वे 'ईस' थे या 'जीव'? वे 'ईश' नहीं थे, केवल ईश-अंश थे जैसा हर जीव होता है। साधारण जीवों की अपेक्षा उनमें अंशों की मात्रा अवश्य अधिक थी, जैसा तुलसी की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

"अंसन्ह सहित देह धरि ताता, करिहउँ चरित भगत सुख दाता॥"[८]

और

"अंसन्ह सहित मनुज अवतारा, लेहुउँ दिनकर बंस उदारा।"[९]

जब मनुष्य में ईश-अंशों की प्रचुर मात्रा होती है तब उसे इस विशिष्टता के कारण 'अवतार' कहते हैं। कभी अवतार न कहकर नरश्रेष्ठ, नरसिंह या पुरुषोत्तम आदि भी कहते हैं। तुलसी ने इसीलिए दशरथ-पुत्र राम को कहीं-कहीं पुरुषोत्तम भगवान् भी कहा है। ऐसे ही पुरुष को साधारण भाषा में असाधारण मनुष्य कहा जाता है। तुलसी के उक्त कथनों पर ध्यान न रखने के कारण तथा उनके द्वारा राम की वन्दनाओं आदि को देखकर पाठक

---

६. वही ६९
७. वही ५०।८
८. वही १५१।२
९. वही १८६।२

सामान्यत: यह समझते हैं कि वे दशरथ-पुत्र राम को ही ईश्वर मानते थे। यथार्थ बात यह है कि जिस प्रकार विलियम वर्ड्सवर्थ आदि प्रकृतिवादी (Naturalist) कवि किसी फूल या पक्षी को देख ईश्वरीय महिमा की गूंज से अपनी कविता को भर सकते हैं उसी प्रकार तुलसी ने दशरथ-पुत्र राम के अंग-प्रत्यंग अथवा भिन्न-भिन्न कालीन कृत्यों को देख ईश्वर के विभिन्न गुणों के वर्णन से वन्दनाओं आदि के द्वारा मानस को भली-भाँति सजाया है। वे दशरथ-पुत्र राम को पुरुषों में उत्तम अथवा असाधारण पुरुष ही जानते थे, और इस असाधारणता के कारण ही वे अवतार कहे जाते थे।

असाधारण पुरुषों के दो प्रकार के कार्य देखने को मिलते हैं—एक साधारण, और दूसरे असाधारण। इसलिये राम के चरित्र में भी हमें उनके बाल्यकाल से लेकर अन्त तक सामान्य और असमान्य कृत्य देखने मिलते हैं। बन्धुओं-सखाओं के साथ खेल-कूद जन-परिजन को बाल्य-क्रीड़ाओं से प्रसन्न रखना इत्यादि सामान्य कर्म हैं। इसके विपरीत अल्पकाल में अनेक विद्याओं का सीख लेना, सात ताल-वृक्षों को पार करते हुए पृथ्वी को छेद कर उनके शर का पुनः अपने स्थान पर लौट आना, अहिल्या-उद्धार, तैरते हुए पत्थरों आदि द्वारा समुद्र का बाँधना इत्यादि असमान्य कार्यों के दृष्टान्त हैं। साधारण मनुष्य असाधारण मनुष्य के असमान्य कृत्यों को देख उन्हें चमत्कार, जादूगिरी, नज़रबन्दी आदि शब्दों से सम्बोधित करने लगता है और यदि ऐसे कृत्य उसे स्वयं देखने को नहीं मिलते केवल उनके विषय सुनता या पढ़ता है तो वह उन्हें अपनी अल्पज्ञता के कारण असम्भव या गप्प समझ बैठता है। उसकी इस प्रकार की धारणा उस समय और बढ़ जाती है जब कथक-वार्तिक लोग कई अनर्गल बातें उनके साथ और अधिक जोड़ देते हैं। यदि उपर्युक्त बातों पर ध्यान रख राम के चरित्रों की समीक्षा की जाय तो न तो अपनी ना-समझी के कारण राम को दोषी ठहराने का अवकाश आवे, और न 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' कहकर मन समझाने की बात आवे। अतः अब हम उक्त आरोपित दोषों का निरीक्षण स्वाभाविक

व्यवहार की दृष्टि से कर यह बतावेंगे कि तत्संबंधी शंकायें निर्मूल हैं। हमने इस पुस्तक के वर्तमान अध्याय तथा उसके पूर्व और आगामी अध्यायों के विषयों पर विस्तारपूर्वक लिख छोड़ा था, परन्तु उनका केवल संक्षिप्त रूप ही देना यहाँ उपयुक्त हो सका है।

(१) निरपराध मृगों का हनन और उनका मांस-भक्षण का दोषारोपः—

जिन पंक्तियों के कारण यह दोषारोप लगाया जाता है वे ये हैं—

बंधु सखा सँगलेंहि बुलाई, बन मृगया नित खेलहिं जाई।
पावन मृग मारहिं जियजानी, प्रति दिन नृपहि दिखावहिं आनी।
जे मृग राम बान के मारे, ते तनु तजि सुरलोक सिधारे।
अनुज सखा सँग भोजन करहीं, मातु पिता अग्या अनुसरहिं।[१०]

मानस-मीमांसा के लेखक इन्हें देखकर कहते हैं कि "रामचन्द्र गोसाईं जी की धारणानुसार परमात्मा के अवतार हैं.....और जिन्हें स्वयं आपने ही 'दीनबन्धु अति मृदुल स्वाभाऊ' होने की सार्टीफिकेट भी दे रखी है, वे ही रामचन्द्र....शिकार खेलने को जाते हैं, पर मारते हैं किनको? शेर बब्बर, बाघ, चीते आदि को नहीं; बल्कि निरीह निरपराध तथा प्रकृति-भीरु 'पावन मृगों' को। इतना ही नहीं....बल्कि अपने माता-पिता की आज्ञानुसार उन्हें अपने भाइयों तथा बन्धु-बान्धवों के साथ मिलकर भक्षण भी कर जाते हैं[११]......इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि.... 'भोजन करहीं' में केवल भोजन ही अभिप्रेत है, न कि मृगमांस-भक्षण भी। पर यदि अन्तिम चौपाई की व्याख्या इस प्रकार की जाए तो दूसरी चौपाई के 'पावन मृग' का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। 'पावन' शब्द इस बात को सूचित करता है कि जो मृग पवित्र थे अर्थात् जिनका मांस भक्षण करने योग्य था उन्हीं का शिकार रामचन्द्र करते थे अन्यों का नहीं।"[१२]

---

१०. मानस, बा० कां० २०४।१-४

११-१२. मानस मीमांसा, पृ० १३३ वा १३५

प्रसंग है राम के बाल्यकाल का वर्णन! उसे समझने के लिये न तो हमें अवतार-तत्त्व की गहराई में जाना है, और न 'मानव-प्राणी-सुलभ-दुर्बलताओं' के भीतर घुसना है। बाल्यकाल के कार्यों में स्वाभाविकता और पवित्रता रहती है, क्योंकि उस समय बालकों में स्वार्थ आदि से उत्पन्न दुर्भावनायें नहीं आ पातीं। उस समय उनमें सख्य, प्रेम वा क्रीड़ा अथवा लीला का भाव रहता है। तुलसी ने राम के जन्मकाल से लेकर उनकी हर अवस्था का चित्रण किया है। 'कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम-अनूपा' से प्रारम्भ कर 'कबहुँ उछंग कबहुं पर पलना' का काल जब निकल जाता है, तब 'धूसर भरे तनु' पर आते हैं, और क्रमशः अन्य बालकीय वर्णनों के पश्चात् जब राम कुछ और बड़े हो जाते हैं तब वे गुरु गृह पढ़ने जाते हैं तथा फुरसत के समय समायुवाले बालकों के साथ वन में मृगया खेलने जाते हैं। तुलसी का यह बाल-सख्य और 'पावन मृग', हमारी सम्मति में, मानस को वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण से कहीं अधिक ऊंचा ले गया है, क्योंकि एक तो उन ग्रन्थों ने राम के बाल-क्षेत्र को केवल चारों राजकुमारों के घेरे में कोंढ़ कर रखा है, जब कि तुलसी उसे पार कर बाल-समाज में पहुँचा देते हैं, और दूसरे वे बालकों पर पौरुषेय शौर्य का आरोप कर उनके द्वारा शेर आदि 'दुष्ट मृगों' को मारने तथा उन्हें राजा को अर्पण करने की बात कहते हैं जब कि तुलसी उनकी 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया' के अनुरूप उनके द्वारा सरल-सीधे छोटे-मोटे पावन-मृगों का मारना तथा प्रशंसा-प्राप्ति की इच्छा से उन्हें लाकर राजा को बताना दिखाते हैं। इस प्रकार की सहमृगया के वर्णन के बाद तुलसी सहभोज का वर्णन करते हैं और फिर कुछ और बाल-लीलाओं का वर्णन करके उस प्रसंग को यह कहकर समाप्त कर देते हैं—"यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई!"

यदि उक्त आलोचक महोदय ने इस बाल-सख्य के प्रसंग पर दृष्टि रखी होती तो उक्त चौपाइयों में जिन शब्दों का प्रयोग तुलसी ने किया है, उनका स्वाभाविकी अर्थ न भुलाया जा सकता। बालकों का वन ग्राम

का निकटवर्ती कोई बाहर का स्थान ही हो सकता है जहां छोटे-मोटे तीतुर-बटेर, श्रृगाल जैसे पक्षी-पशु मृगया के लिये सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। यह वन वह बीहड़ बन का अर्थवाची नहीं है जहां शेर बब्बर आदि रहते हैं। 'मृग' का अर्थ लोग बहुधा 'हरिण' करते हैं। परन्तु यथार्थतः उसके अन्तर्गत समस्त प्राणीमात्र का अर्थ निहित रहता है। 'मृगया खेलहिं' कहकर तुलसी बाल-केलि का भाव लाये हैं, अन्यथा 'मृगया, करहिं' कहते जैसा उन्होंने अरण्यकांड में खर-दूषण के सम्बन्ध में कहा है। इसी तरह 'पावन' का प्रयोग बालकीय पवित्र भावना को दर्शाने-निमित्त किया गया है, न कि 'मृग की पवित्रता' या 'भक्ष्यमांस की पवित्रता' बताने के निमित्त।

मांस-भक्षण का आरोप लगाने के समर्थन में आलोचक महोदय चौथी चौपाई के 'भोजन करहीं' का दूसरी चौपाई के 'पावन मृग' से सम्बन्ध जोड़ते हैं, तीसरी चौपाई को मानो निगल जाते हैं। दूसरी यदि स्वतंत्र नहीं है, तो स्वाभाविकता तीसरी से सम्बन्धित होना चाहिये और है भी। 'पावन मृग' तीसरी चौपाई के 'सुरलोक सिधारे' से सम्बन्धित है, अर्थात् वे 'पावन मृग' जो राम-वान से मारे जाते थे 'सुरलोक सिधारे'। चौथी पंक्ति में बाल्यकालीन चरित्र का भोजन-सम्बन्धी एक स्वतंत्र विषय उसी प्रकार जैसे धूल में खेलना, मृगया खेलने जाना इत्यादि।

उक्त चौपाइयों में 'पावन मृग और सुरलोक सिधारे' पद ही विवाद और शंका की जड़ हैं। इनके रहस्य को समझने के लिये सर्वप्रथम तुलसी की रचना शैली को देखिए। तुलसी रामचरित्र सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करते चलते हैं, पर बीच-बीच में कहीं कहीं अपनी सम्मति, भावना या ईश्वरीय महत्व भी बताते जाते हैं। उदाहरणस्वरूप घटना है 'गुरुगृह गए पढ़न रघुराई, अल्प काल विद्या सब पाई।' परन्तु उसी पंक्ति के नीचे 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी, सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी' कहकर तुलसी ने अपनी सम्मति वा भावना प्रदर्शित की है। इसी तरह 'पावन मृग मारहिं. . . .आनी' यह दूसरी पंक्ति का कथन घटना सूचक है तथा तीसरी पंक्ति में कथित 'जे मृग रामवान. . . . .सिधारे' तुलसी की उक्त

घटना सम्बन्धी सम्मति या भावना है। कवि अपनी भावना का आरोप राम के वान पर करता है। इसलिये 'पावन मृग' का अर्थ लगाने के लिये न तो यह आवश्यक है कि वह तीसरी पंक्ति के 'परलोक सिधारे' से सम्बन्धित किया जाय और न चौथी पंक्ति के 'भोजन करहीं' से।

तब फिर यह देखा जाय कि 'पावन' क्या 'मृग' का विशेषण है। हमारी सम्मति में, नहीं है। बालकों में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वे किसी पशु-पक्षी की आन्तरिक बातों को जान तत्सम्बन्धी पवित्रता-अपवित्रता का निर्णय कर सकें। फिर, राम ही अकेले मृगया खेलने वाले नहीं थे। अन्य सखा भी खेलते होंगे (मृगया खेलहिं)। ऐसी हालत में क्या सभी में पावनता परखने की क्षमता मानी जा सकती है? तब पावन के निम्न अर्थ हो सकते हैं—

(१) देखने में जो सुन्दर हों। बालकों की दृष्टि में जो सुन्दर दिखता है वही उनके लिये उत्तम या पवित्र होता है; अथवा

(२) 'पावन' मृग का विशेषण न होकर 'मृगया' का विशेषण हो सकता है क्योंकि अपने बूढ़े-स्यानों को मृगया करते देख बालक भी उस कृत्य को करने योग्य मानने लग जाते हैं। इस दृष्टि से उस पंक्ति का अन्वय यह होगा- 'जिय (मृगया) पावन जानी'; अथवा

(३) 'पावन' जिसका विशेषण हो सकता है। उस दशा में अन्वय यह होगा—'पावन जिय मृग जानी, मारहिं' अर्थात् अपने पवित्र मन में यह जानकर कि अमुक जन्तु शिकार खेलने योग्य है उसे मारते हैं।

इनके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार (transferred epithet) के दृष्टिकोण से बालहृदय की सहज पावनता का प्रतिविम्बन अथवा आरोप मृग पर करके 'पावन जिय' न कहकर 'पावन मृग' कहा हो।

निष्कर्ष यह है कि एक ओर वे हैं जो राम को भोले-भाले प्राणियों को मार कर खाने का दोष लगाते हैं, और दूसरी ओर वे हैं जो राम के अवतारी-पन अथवा सामर्थ्य की बात कहकर यह बताते हैं कि राम उन्हीं मृगों को

मारते थे जो पूर्वजन्म में कुछ भूल कर बैठने के कारण पशु योनि में अपने पाप-फल को भोगने के लिये जन्मे थे। उन्हीं को राम मारते थे और परलोक भेज देते थे। यह दलील सुनकर यदि कोई विपक्षी यह कह बैठे कि फिर अपने बन्धु-बान्धवों या अन्य मानवों का भी हनन इसी आधार पर किया जा सकता है तो कोई आश्चर्य नहीं। दोनों पक्षों की तर्कें वा दृष्टिकोण अस्वाभाविक अव्यवहारिक तथा अत्यन्त शिथिल वा निर्मूल होने के कारण, हमारी सम्मति में नितान्त अग्राह्य हैं।

(२) लक्षमण के द्वारा सूर्पणखा के नाक-कान कटवाना :—

प्रसंग की मुख्य बात यह है कि रामवृत्ती, अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ ब्रह्मचारी राम-लक्ष्मण के पास सूर्पणखा असीम निर्लज्ज होकर इसलिये पहुंचती है कि किसी भी प्रकार से वह उनके व्रत को भंग कर सके। प्रसंग की गम्भीरता में न जाने वाले लोग राम पर इस सम्बन्ध में बड़ा भारी दोष यह लगाते हैं कि उन्होंने क्षत्रिय-कुल-भूषण होकर भी एक अबला के नाक-कान कटवा लिये। मानस-मीमांसाकार ने इस विषय पर जो कटु आलोचना की है वह उनकी पुस्तक पृ० १४२-१४५ पर है। उसका सार यह है कि सूर्पणखा निरपराध थी, और रामचन्द्र असत्य बोले तथा उनका कृत्य निष्ठुर और बर्बर था। सूर्पणखा का निरपराधीपन निम्न कारणों से बताया है—

(१) स्त्रियों का सुन्दर पुरुषों पर आसक्त होना स्वाभाविक है—अपने मन को रोकना उसके काबू की बात न थी;

(२) विधवाओं का पत्यन्तर वरण करना शास्त्र-सम्मत है;

(३) उस युग की सभी स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी तथा पतिवरण में पूर्णतः स्वतंत्र थीं; तथा

(४) सीता को भयभीत करने के लिये राम ने लक्षमण को कुंवारा बता स्वयं झूठ बोलकर तथा दोलापाती खेलकर उसे उकसाया; इसलिये उसका वह कार्य 'संगीन तथा अचानक उत्तेजना' (Grave and sudden provocation) नामक नियम के अन्तर्गत आने के कारण अपराध की परिभाषा में नहीं आता।

उक्त क्रम १, २, ३ में कथित बातें यदि सत्य भी मान ली जायँ तो भी न तो कोई स्त्री किसी पुरुष को उसकी कामेच्छापूर्ति के लिये बाध्य कर सकती और न कोई पुरुष ही किसी स्त्री को बाध्य कर सकता। यदि क े तो उसकी गणना सदा से न्याय वा नीति की दृष्टि में आततायी में की जाती रही है। आवश्यकता हो तो ऐसे आततायी को मृत्यु दण्ड तक दिया जा सकता है जैसा हम बालिबध के प्रसंग के समय बतावेंगे। सूर्पणखा ऐसी निर्लज्ज थी कि उसने सती-साध्वी सीता के उपस्थित रहते हुए भी राम और लक्षमण के लौकिक धन से भी अधिक मूल्यवान आत्म-धन को, पहले तो अपने को कुमारी आदि बताकर तथा रुचिर-सुन्दर रूप बना मीठी-ठगौरी बातों द्वारा हरण करना चाहा, और अन्त में अपने भयंकर रूप और सम्भवतः अपने भाइयों के वैभव तथा बल को बताकर भयभीत करके अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहा। राम ने उसे पहले समझा-बुझाकर कुछ ऐसी बातें कहीं कि यदि उसमें स्त्री-जाति का स्वाभाविक भूषण, लज्जा का तनिक भी आभास होता तो लौट जाती। पर वह न टली, मानों जबरन धर्म-सर्वस्व लूटना चाहती हो। ऐसी परिस्थिति में मृत्युदण्ड न देकर केवल अंग-भंग कर देना एक प्रकार से कम ही सजा थी। सच पूछा जाय तो सूर्पणखा ने स्वयं संगीन वारदात करने के लिये राम-लक्षमण को उकसाया, न कि राम ने या लक्षमण ने। इसलिये क्रम नं० ४ में दी हुई तर्क निराधार है। यह कहा जाता है कि राम ने लक्षमण को 'कुमार' (कुंवारा) कहकर झूठ बोला, और यह झूठ बोलते हुए सूर्पणखा को लक्षमण के पास भेजा, इससे आरम्भ में उकसाने का अपराध राम ने किया। नहीं, अपराध सूर्पणखा ने ही प्रारम्भ किया और उसे सिद्ध करने के लिये अन्त तक हठ करती रही। वह कुमारी नहीं थी, दानवेन्द्र विद्युज्जिह्वा से विवाही जा चुकी थी (वा० रा०, उ० कां० १२।२)। फिर भी वह झूठ-मूठ 'कुमारी' बनकर पहुंची और राम से कहा कि मैं तुम्हीं को वरना चाहती हूँ। राम की अनिच्छा जानते ही वह उसी वरण के हेतु चट से लक्षमण के पास जा पहुँचती है। कितना झूठा था उसका यह व्यवहार! राम ने उसे प्रथम बार लक्षमण के

पास जाने के लिये नहीं कहा। केवल इतना ही कहा था, 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता'। सम्भव है, राम ने कुमारी बनने वाली विवाहित सूर्पणखा को व्यंग्य मारने के अभिप्राय से उसी जैसा विवाहित कुमार दिखा दिया हो, क्योंकि लक्षमण के साथ उनकी पत्नी नहीं थी। उसी प्रसंग में 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता' के पूर्व तुलसीदास जी ने एक बार 'कुमारा' शब्द का प्रयोग और किया है, जो कुमारावस्था अथवा यौवनावस्था का द्योतक है! अतः यह 'कुमार' भी उसी भाव के प्रदर्शनार्थ समझना चाहिये। पहली बार का कथन यह है—

पंचबटी सो गइ एक बारा, देखि विकल भइ जुगलकुमारा।'

(३) अपने स्वार्थ के लिये बालि का छिपकर बध करना :—सुग्रीव अपने बड़े भाई बालि का बड़ा भक्त था वह मायावी दानव से बालि की रक्षा करने के अभिप्राय से पीछे पीछे दौड़ता गया। भाई की आज्ञा के अनुसार गुहा-मुख पर एक माह तक बालि की बाट देखता रहा। बालि के न आने पर उसे मृत समझ घर लौट आया। उसकी अनिच्छा रहते हुए भी मंत्रियों ने राज्य की सूनी गद्दी पर राज्य-प्रथा के अनुसार उसको राज्य-तिलक कर दिया।[१३] बालि लौटा। सुग्रीव को बैरी समझने लगा। उसकी सारी सम्पत्ति और स्त्री का अपहरण कर लिया, तथा उसे राज्य से निकाल भगाया। तब से वह बालि के डर के मारे ऋष्यमूक प ंत पर रहने लगा। उसके मंत्री हनुमान ने उसकी मैत्री राम से कराई। इसके बाद बालि और सुग्रीव का द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमें सुग्रीव को हताश और थकित देख राम ने वालि को वाण मारा जिससे वह मर गया। प्रश्न यह है कि क्या राम ने छिपकर मारा और क्या उनका यह कृत्य सदोष है या न्यायपूर्ण?

तुलसी ने केवल यह कहा है—'विटप ओट देखहिं रघुराई'। इससे छिपकर मारने का अर्थ नहीं निकलता। दोनों भाइयों का द्वन्द्व युद्ध हो रहा

---

१३. वानर-राज्य की प्रथा के अनुसार राजगद्दी का उत्तराधिकारी राजा का छोटा भाई होता था, न कि पुत्र (वा० रा० कि० कां० १७।५०)

था। उन पर नज़र पड़ने से उनमें से किसी का मन विचलित न होने पावे इस कारण से, सम्भव है वे ओट से देख रहे हों। परन्तु अधिक सम्भव यह है कि सघन जंगल होने के कारण सहज ही सघनता के कारण राम आदि विटपों की ओट में हो गये हों। ऐसी दशा में प्रधानता है 'विटप की ओट में पड़ जाना' न कि 'देखहिं' की। यह अर्थ वाल्मीकि रामायण के कथन से स्पष्ट हो जाता है। वहां यही कहा गया है कि सघन वन-स्थल होने के कारण रामादि सब वृक्षों से ढक गये और वहां से देखते रहे छिपकर मारने की बात तो पाठकों के मन में बालि के क्रोध भरे 'मारेहु मोहि व्याध की नाईं' शब्दों के आने से उठी होगी। परन्तु 'व्याध' शब्द दण्ड से दुखी बालि के मुख से निकला होने के कारण सत्यता का द्योतक नहीं कहा जा सकता, और सत्य भी हो तो क्या उसका कृत्य केवल वा सदा छिपकर ही मारना होता है ? अतएव छिपकर मारने की बात में हमें कोई तथ्य नहीं दिखता।

मान लो छिप कर ही मारा तब भी राम का कृत्य नीतिमय होने के कारण निर्दोष है। वालि की गणना आततायी में थी। प्रमाण में यह देखिये—

अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणि र्धनापहा !
क्षेत्र दारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥[१४]

अर्थात् आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र लिये हुए मारने को उद्यत धन हरण करनेवाला, जमीन (खेत) छीननेवाला और स्त्री का हरण करनेवाला ये छहों आतयायी होते हैं।

ऐसे आततायियों को प्राण दण्ड तक देना न्याय होता है चाहे वह कोई भी क्यों न हो, जैसा मनु ने कहा है।

गुरूं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम।
आततायिनमायान्तं हन्यादेव अविचारयन।[१५]

---

१४. वशिष्ठस्मृति ३।१९
१५. मनुस्मृति ८।३५०

नाततायिवधो दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥"[१६]

तात्पर्य यह है कि आततायी को बिना सोचे विचारे प्रकट होकर या छिपकर मारनेवाले को दोष नहीं होता। आज भी यही नीति वर्ती चली जा रही है। प्रमाण स्वरूप भारतीय दण्ड विधान की धारा ९६ वा ९७ पर विशेष लक्ष्य रखते हुए ९६ से १०७ धारा तक पढ़िये। इस अधिकार को सूत्र रूप में 'आत्म-रक्षण का अधिकार' (Right of private defance) कहते हैं।[१७] जब यह अधिकार किसी एक राज्य की प्रजा के बीच होनेवाले अपराधों से बचने के लिये सर्वत्र मान्य है, तब तो राजा राजा के बीच और भी अधिक मान्य समझना चाहिये क्योंकि राजकीय न्यायालयों में राजा को दण्ड उस काल में मिलना असम्भव था। ऐसी परिस्थिति में यदि राम ने बालि को मारा तो कोई पाप नहीं किया, क्योंकि बालि ने अपने बाहुबल वा राजबल के द्वारा एक निरपराध भाई की सम्पत्ति वा स्त्री को छीन उसका देश-निकाला कर दिया था। इतना ही नहीं वह उनका संभोग कर रहा था और अपनी पत्नी तारा आदि तक के द्वारा उन्हें लौटा देने के लिये सचेत करने पर भी अभिमानवश वह लौटाने को तैयार नहीं हुआ।

उपर्युक्त आत्म-रक्षण के अधिकार के अन्तर्गत कोई भी अन्य किसी दूसरे की सम्पति शरीर आदि की रक्षा करने का अधिकारी माना जाता है? राम का उक्त मारने का कृत्य इस अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत तो था ही, पर मैत्री तथा इक्ष्वाकु वंशीय राजा भरत के राज्य-सेवक होने के नाते भी वह उचित था, क्योंकि एक ओर तो सुग्रीव मित्र थे और दूसरी ओर

---

१६. वही ८।३५१

१७. "Nothing is an offence which is done in the exercise of right of private defence" (धारा ९६ भारतीय दण्ड विधान)।

वालि-राज्य यथार्थतः इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के अधिकार-क्षेत्र के भीतर का भाग था, जैसा कि वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा कांड के १८ वें सर्ग से विदित होता है।

(४) घर-फोरू अथवा देश-द्रोही विभीषण को अपने स्वार्थ के लिये अपनाना :—

विभीषण के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह कुटुम्ब तथा देश-द्रोही था, और राम ने रावण-युद्ध में सहायता पाने के स्वार्थ के हेतु उसे अपनाया तथा लंका-विजय के पूर्व ही उसे बुद्धू बनाने के लिए लंकेश की उपाधि दे डाली।

प्रसंग की हत्या करनेवाले ही ऐसी तर्कें उठाया करते हैं। रावण को उसकी स्त्री मंदोदरी तथा माल्यवंत आदि सचिव समझाते हैं कि पराई स्त्री को लौटा दो। रावण नहीं मानता। विभीषण भी बार-बार चरण छू-छूकर गालियां सुनता हुआ मनाता है, पर मानना तो दूर रहा रावण उसे लात मारता है और निकल जाने के लिए कहता है। तब भी वह उसके प्रति शुभमनोकामना प्रकट करता हुआ चार मंत्रियों समेत राम की शरण में जाता है। निकल जाने की बात मानस में स्पष्टरूप से नहीं आई, परन्तु अध्यात्म रामायण में कही गई है।[१८] राम के पास जब वह पहुंचता है तब राम उसका यथोचित सत्कार-स्वागत करते हैं। इसके पश्चात् दुष्ट संग के कारण वह अपने दुःखद जीवन का वृत्तान्त सुनाकर राम से शरण की याचना करता है।

इन परिस्थितियों के समय क्या कोई ऐसा आलोचक, जिसे लेशमात्र भी मानवीय जगत की नीति विशेषकर राजनीति का ज्ञान हो, यह कहने की दम भर सकता है कि दुष्ट-संग से दुखित होकर भाग आनेवाले किसी शरणार्थी को शरण देना नीति-विरुद्ध है? क्या कोई भी, जो राजा को नीति-पथ पर चलने के लिए उसके चरणों में पड़-पड़ कर ठुकराने वा गालियों

---

१८. अध्यात्म रा० युद्ध कां० २।३०; ३।३

को सहन करता हुआ बार-बार आग्रह करे और उसके न मानने तथा सभादि से भगाये जाने पर किसी सन्मार्गी या धर्म-मूर्ति की शरण में चला गया हो, कुटुम्ब या देश-द्रोही कहा जा सकता है ? यथार्थ में कुल में बट्टा लगानेवाला तथा उसे नष्ट करने के लिए बीजारोपण करनेवाला कुटम्ब-द्रोही था रावण, और देश को अनैतिकतापूर्ण युद्ध के द्वारा बरबाद करनेवाला देश-द्रोही भी वही था। विभीषण तो इसके विपरीत कुटुम्ब और देश दोनों का सुहृद हितैषी था। नीति यह कहती है कि ऐसे दुष्ट राजा को त्याग देना ही परमोत्तम होता है—

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वी त्यजेत्॥"[१९]

अर्थात् कुल के अर्थ एक व्यक्ति को, ग्राम के अर्थ कुल को, देश के अर्थ ग्राम को, और आत्मा के अर्थ पृथ्वी अर्थात् सब लोक को त्याग दे।

तथा

"स्वजनापमानो...कुनृपस्य सेवा...बिनाग्निमेते प्रदहंति कायम्"[२०]

अर्थात् अपने जनों से अपमान और कुत्सित राजा की सेवा में बिना आग ही शरीर को जलाते हैं।

राम का उद्देश्य यह नहीं था कि लंका-विजय कर वहां का राज्य या अन्य सम्पत्ति हथिया ली जाय। मानस में वर्णित समस्त संघर्ष वा युद्ध आचारों से सम्बन्धित मानवता और पाशविकता (अमानवता) अथवा धर्म और अधर्म के बीच के हैं। राम किसी की सम्पत्ति हड़पने या अयोध्या राज्य-विस्तार के हेतु तपस्वी वा त्यागी बन कर वन नहीं निकले थे। उनका ध्येय था फैले हुए अनाचारों के स्थान में सदाचारों की स्थापना करना। इसीलिए आप देखते हैं कि बानर-राज्य की गद्दी धर्म-प्रिय सुग्रीव और लंका-राज्य

---

१९. चाणक्य नीति ३।१०
२०. वही २।१४

की गद्दी धर्म-प्रिय विभीषण ही को सौंपी, अपने लिए कुछ भी नहीं लिया।

जब विभीषण की साधुता राम ने परख ली तब उन्होंने देश-विजय के पूर्व ही सच्चा जन-सेवक समझ कर उसे तिलक लगा दिया और उसे 'लंकेस' की उपाधि से विभूषित कर दिया। यह तिलक राज-तिलक नहीं था। वह था, जन-हितैषिता ईश्वरीय गुण-सम्पन्नता का तिलक, जो धर्ममूर्ति राम ने स्वयं अपने हाथ से लगाया जैसा साधुओं आदि की जमायत का प्रधान योग्य शिष्य के मस्तक पर लगा कर उसे सम्मानित करता है। यह भाव तुलसी की निम्न पंक्तियों से बहता हुआ दिखाई देता है, राम कहते हैं—

"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे धरऊं देह नहिं आन निहोरे।
सगुन उपासक पर हित न, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम।।
सुन लंकेस सकल गुन तोरे, ताते तुम अतिसय प्रिय मोरे।

× × ×

जदपि सखा तन इच्छा नाहीं, मोर दरसु अमोघ जग माहीं।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा, सुमन वृष्टि नभ भई अपारा।"

राज-तिलक तो उन्हें लंका-विजय के बाद ही आवश्यक सज-धज के साथ राज्य-प्रथा के अनुसार चढ़ाया गया। यह लक्षमण, सुग्रीव, अंगद आदि प्रमुख व्यक्तियों के द्वारा लंका ही में जाकर सम्पन्न किया गया।

यदि आपको हमारा बताया हुआ उपर्युक्त भेद न रुचे तो भी राम द्वारा प्रथम तिलक लगाना तथा लंकेश की उपाधि देना उनका राजनैतिक चातुर्य का ही प्रतीक है, न कि स्वार्थ का। विभीषण साधारण व्यक्ति नहीं था। वह था एक राजकुल का, राजा का भाई। उसके पहुँचने से राम-सेना के सैनिक उसके प्रति सशंक थे। इसलिये यह आवश्यक था कि उसे सब के सामने राम अपने हाथ से तिलक लगाकर वैसा ही सम्मानित करें जैसा सुग्रीव था। युद्ध काल में राम का वह सुग्रीव के समान ही सलाहकार वा मित्र बनकर रहे यह राम के मन में आने पर उसे भी लंकेश की उपाधि

दी गई, ताकि अवधेश 'कपीश' और 'लंकेश' तीनों एक समान स्तर पर बैठ युद्धादि सम्बन्धी बातचीत करने में भाग ले सकें, और सैनिक गण, विभीषण को भी समादरणीय समझने ल ें। राम के युग में तत्सम्बन्धी क्या राजनीति थी यह तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह निश्चय है कि ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की नीति वर्ती जाती थी। आजकल भी यह देखने में आता है, कि कुछ कुछ भिन्नतायें लिये हुए विशिष्ट परिस्थितियों के समय, विशेषकर विप्लवों तथा देश-देशके बीच चलते हुए युद्धों के समय शत्रु देश के किसी ऐसे महान व्यक्ति को, जो वहां की नीति से असंतुष्ट होकर दूसरे शत्रु देश में आ जाता है, उसके निजी देश का राजा या प्रधान शासक कहकर संबोधित करने लगते हैं, जैसे द्वितीय महायुद्ध के समय सुभाष बोस जापान आदि के द्वारा भारतीय प्रतिनिधि की उपाधि से विभूषित किये जाने लगे थे, और उसी दृष्टि से वे लोग भारत के तत्कालीन अनेक सबधों के विषय में उनसे सैनिक आदि व्यवहार करते थे।

राम-कथा पर काल्पनिकता का दोषारोपण और उसका निराकरण

राम-कथा पर दो मत:—तुलसी के आदर्श थे, सीता और राम! कुछ लोग कहते हैं कि सीता और राम नाम के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हुए, इसलिए सारी राम-कथा काल्पनिक होने के कारण निरर्थक और निरुपयोगी है। दूसरे कुछ लोगों का मत है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति थे, इसलिये राम-कथा यत्र-तत्र कुछ अद्भुत बातों से युक्त होने पर भी जीवनोपयोगी और सार्थक है।

सीता-राम की वास्तविकता पर सन्देह होने के कारण:—सीता राम की वास्तविकता पर सन्देह होने के कारणों का विभक्तिकरण निम्न प्रकार से कर लिया जा सकता है—

(१) **कालान्तर**—घटना को घटित हुए बहुत-बहुत काल हो चुका, इसलिये क्रम-बद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों की अनुपलब्धि में विस्मृतियां होना तथा इधर-उधर की गप्प-सप्प का जुड़ जाना स्वाभाविक है।

(२) **लेख-वैचित्र्य**—मानस की लेखन-पद्धति आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से भिन्न है, तथा उसमें हिमकन्या अथवा बन्दर-रीछादि का मनुष्यवत कर्म करना आदि अनेक वर्णनों का भी समावेश है जिन पर विश्वास नहीं होता।

(३) **वाचन-वैचित्र्य**—मानस में वर्णित घटना-चक्र एक लम्बे १४ वर्ष का है। उसका पाठ करने की आदत हमें यह पड़ी है कि पूरी रामायण कम से कम समय में पढ़ी जा सके। परिणाम यह होता है कि हम चौपाइयों

की चौपाइयां मिनटों में कह तो डालते हैं, पर उनकी वास्तविकता जानने के हेतु बुद्धि-बल का प्रयोग नहीं कर पाते।

(४) **चरित्र-वैचित्र्य**—राम और सीता की उत्पत्तियों तथा चरित्रों के विषय में अनेक स्थानों पर इतनी अधिक अद्भुतता तथा अस्वाभाविकता प्रदर्शित की गई मिलती है कि अधिकाधिक मनन करने पर भी उनमें सत्यता की प्रतीति नहीं होती।

(५) **राम और सीता की वंशावलियों में कई पीढ़ियों का अन्तर**-दिखाई देता है जिससे उनकी समकालीनता सिद्ध होती नहीं दिखाई पड़ती। इस विषय पर मानस-मीमांसा के लेखक महोदय ने एक खासा लम्बा लेख लिखा है, जिस पर हमारा आलोचनात्मक मन्तव्य आपको आगे मिलेगा।

मानस के तीन प्रकार के पाठक:—मानस के पाठकों में आपको तीन प्रकार के मनुष्य मिलेंगे। एक वे, जिनमें धर्म-वृत्ति का प्राधान्य रहता है, जिसके फलस्वरूप वे हर बात को, चाहे उसे वे समझें, या न समझें ईश्वर की अलौकिक महिमा कहकर मान लेने में कुछ भी ननुनच नहीं करते। दूसरे वे, जिनमें लोक-वृत्ति की प्रधानता रहती है, इसलिये वे हर एक बात को, जो उनकी बुद्धि के बाहर की रहती है असत्य अथवा असम्भव आदि कहकर टाल देते हैं। तीसरे वे हैं, जो प्रयत्नशील होकर शंकास्पद अथवा विवादास्पद बातों का वैज्ञानिक वा व्यवहारिक विधि से समाधान ढूंढ़ते हैं। इस तीसरे वर्ग के लोगों की विशेषता होती है, मननशीलता। पुनरावृत्ति का दोषी होकर।

मानसान्तर्गत भ्रमोत्पादक कथनों का विभक्तीकरण:—मानस के अन्तर्गत अनेक कथन भ्रमोत्पादक मिलते हैं जिनसे राम-कथा की वास्तविकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। उन सब कथनों का उल्लेख करना तथा उनका समाधान लिखना किसी एक ग्रन्थकर्ता के लिये सम्भव नहीं, कम से कम महाकठिन अवश्य है। तिस पर इस पुस्तक में तो करना असम्भव ही है। अतः हम अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार नीचे कुछ ऐसे विभाग देते हैं जिनके अन्तर्गत प्रायः सभी प्रकार के भ्रमोत्पादक कथनों का समावेश

किया जा सकेगा, और तदनुकूल उनसे उत्पन्न भ्रमों के निराकरण करने के सामान्य पथ भी प्रकाश में आ सकेंगे।

(१) **वन्दनात्मक**—मानस की प्रार्थनाओं या वन्दनाओं को पढ़ते समय यह ध्यान रखा जाय कि तुलसी एक प्राकृतिक (Naturalist) कवि के नाते मानव-विशेषों को देख, उनके तथा ईश्वरीय निर्गुण एवं सगुण सत्ता के, कभी अलग और कभी साथ ही साथ, गुणगान करने में प्रवृत्त रहते हैं। जहां जैसा उचित अर्थ जमता हो वैसा ही जमाकर आत्म-सन्तोष तो मिलता ही है, पर साथ ही साथ कवि का यथार्थ भाव भी ग्राह्य हो जाता है।

(२) **संक्षिप्तात्मक**—वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा मानस अति सूक्ष्म ग्रन्थ है। इसलिये सूक्ष्मता के कारण कुछ बातें पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ पातीं जिससे मन में सन्देह उठता है, जैसे राम-जन्म-विषयक हवि के द्वारा पुत्रों का जन्म हो जाना। ऐसे समय पर यथासम्भव वाल्मीकि रामायण से हल ढूंढ़ना चाहिये। उसको ध्यानपूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि उक्त हवि एक प्रकार की ऐंसी औषधि तैयार की गयी थी जिसके खाने से रानियों में गर्भाधान की शक्ति उत्पन्न हुई और हवि तैयार करते समय राजा दशरथ को जो विधिपूर्वक गन्ध सुंघाई गई उससे उनमें पुंसत्व शक्ति की पूर्ति की गयी। फिर उचित समय व्यतीत हो जाने पर ही पुत्र उत्पन्न हुए।

(३) **अलंकारात्मक**—अनेक स्थानों पर विशिष्ट भावों का प्रदर्शन रूपक आदि अलंकारों के योग से किया गया है। उदाहरणार्थ जब राम सीता से विवाह कर घर आते हैं तब कहा है 'भुवन चारि दस भूधर भारी, सुकृत मेघ वरषहिं सुखवारी।' यहां 'चौदह भुवनों' का अर्थ ईश्वर की विराट रचना के विराट चौदह भुवनों का नहीं माना जा सकता। तब उसे इस प्रकार घटाना होगा। ईश्वरीय रचना की विशिष्टता यह है कि जो गुण उसकी विराट रचना में विद्यमान रहते हैं वही लघु पदार्थों में भी होते हैं। इस दृष्टि से मानव शरीर के अन्दर भी चौदहों भुवनों के लक्षण रहते हैं।

अतः निकटवर्ती अन्य पंक्तियों के संग में उक्त पंक्ति का यह अर्थ उपयुक्त होगा कि 'अवध राज्य की सारी प्रजा हर प्रकार से भीतर-बाहर सुकृत थी जिसके फलस्वरूप अवध सर्व प्रकार से समुद्र जैसा परिपूर्ण हो रहा था।'

(४) **भाव-निरूपात्मक**—मानव-जगत में दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार के अन्तर्स्थित सर्व-व्याप्त भावों का वास रहता है। उनमें से कई एक का प्रदर्शन मानस में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के द्वारा किया गया है, जैसे जय और विजय को ईश्वर के द्वारपाल कहा है तथा उन्हें विप्र द्वारा श्राप भी देना बताया है। यथार्थ में जय आलस आदि और विजयी अहंकार आदि वश-कर्म-च्युत (सदकर्म ही विप्र का द्योतक है जैसा हम पूर्व में कह आये हैं) हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि वे पतित होकर कुंभकरणी और रावणी वृत्ति के हो जाते हैं।

(५) **सिद्धात्मक**—सिद्ध दो प्रकार के होते हैं, एक आसुरी-सिद्ध जैसे रावण मेघनाद आदि; दूसरे दैवी-सिद्ध जैसे हनुमान सीता आदि। परन्तु धर्म-विज्ञ आसुरी-सिद्धों को मानवता के घातक होने के कारण सिद्धों की गणना में नहीं करते। दैवी सिद्धों की अलौकिक बातों को देख उनके विशिष्ट आचारों की सत्यता के विषय में सन्देह उठता है, जैसे हनुमान का आकाश-मार्ग से उड़ना तथा शरीर को छोटा-बड़ा अथवा हलका भारी कर लेना मानस से ज्ञात होता है कि राम-युग में विमान द्वारा तथा आत्माभ्यास द्वारा, दोनों विधियों से आकाश-गमन की विद्या का प्रचार था। विमानों द्वारा उड़ने की बात तो अब आंखों देखी होने के कारण विश्वसनीय हो गई किन्तु स्वयं उड़ने की बात पर अभी विश्वास नहीं होता। परन्तु मुझे स्वयं उसमें विश्वास है, और वह विश्वास है वैज्ञानिक तर्क के आधार पर। मनुष्य की आकृति पक्षी के समान होती है। यह समानता आपको उस समय झलक उठती है जब आप समभूमि पर मुख नीचे की ओर कर लेट जावें और दोनों पैरों को मिले हुए तानकर रखें तथा दोनों हाथों को दोनों ओर प्रायः एक सीध में तानकर रख लें। यह आकृति उड़ते हुए पक्षी की आकृति से प्रायः मिलती है, और प्रायः ऐसी ही आकृति हम आजकल

विमानों की भी देखते हैं। इसी तरह तैरती हुई मछली की आकृति भी होती है। हम पानी में तैर सकते हैं क्योंकि हम अपने शरीर को पानी से हलका बना लेना जानते हैं। यदि हम अपने शरीर को आकाश-स्थित वायु से हलका बनाने की क्षमता प्राप्त कर लें तो पक्षियों के समान कभी हाथ हिलाकर और कभी उन्हें स्थिर कर उड़ सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। शरीर को वायु से हलका बनाना प्राणवायु की समुचित साधनाओं से योगी प्राप्त कर लेते हैं। हनुमान उसमें सिद्धहस्त थे। इसीलिये वे, हमारी समझ में, पवन-सुत, अंजनि-पुत्र, मारूति आदि नाम से विख्यात हुए। वायु-विद्या में सिद्ध-हस्त होनेवाला व्यक्ति लघुकाय वा दीर्घकाय बन सकता है जैसे हनुमान बन जाते थे। वह हलका या भारी भी बन सकता है, अथवा शरीर के किसी अंग को हलका या भारी बना सकता है जैसे अंगद ने रावण के दरबार में अपने पैर को भारी बना लिया था। इस प्रकार की सिद्धियों के रूप अंशतः आज भी हमें विविध रूपों में देखने मिलते हैं जिनका उल्लेख यहां विस्तार भय से नहीं किया जा सकता।

जिस तरह वायु में सिद्ध-हस्त योगी अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियां प्राप्त कर लेते हैं उसी तरह अन्य शेष चार तत्त्वों में सिद्ध-हस्त योगी तद् तद् क्षेत्रीय सिद्धियां प्राप्त करे लेते हैं। उदाहरणस्वरूप हम सीताजी का वह दृश्य देखते हैं जब उन्होंने लंका-विजय के पश्चात् अग्नि-परीक्षा दी थी। मानस में दो प्रसंग हैं जहां सीताजी के अग्नि—प्रवेश का उल्लेख हुआ है। प्रथम बार खर-दूषण-वध के पश्चात् अरण्यकांड में केवल राम के सामने, और दूसरी बार लंका-विजय के बाद सबके सामने। प्रथम बार जिस अग्नि की बात आयी है वह हमारी सम्मति में ईश्वर वाची भाव की द्योतक है, जैसा निम्न मंत्र में प्रयोग किया है—

'अग्ने नय सुपथाराये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।' अर्थात् हे अग्ने! हमें उत्तम फल प्राप्ति के लिये सन्मार्ग से ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान का ज्ञाता है।

दूसरी बार जिस अग्नि की चर्चा की गई है वह पदार्थवाची ही रही

होगी, क्योंकि भारत में अति प्राचीनकाल से उसी का प्रयोग सत्य की साक्षी के रूप में अभी तक देखा जाता है। पदार्थवाची अग्नि में प्रवेश करनेवाला केवल तीन प्रकार से बच सकता है। एक तो अकस्मात् (mere accident)[1] से जिसे ईश्वरवादी 'होनहार' अथवा 'ईश्वर-कृपा' कहते हैं। दूसरे जल-योग में सिद्ध-हस्त होने से, अर्थात् शरीर में शीतकारी जल-योग की प्रचुरता कर लेने से। और तीसरे आत्म-शुद्धता की पराकाष्ठा से। सीताजी का बच जाना हमारी समझ में तीसरे कारण से हुआ होगा। चूंकि वे स्वयं अपनी शुद्धता का परिचय अग्नि में प्रवेश कर अपने स्वामी को देना चाहती थीं इसलिये यदि वे अकस्मात बच जाती तो पुनः प्रवेश करती। इसी तरह जल-योग के द्वारा अपने शरीर को बचाने की चेष्टा करना ऐसा होता मानो वे राम को अपने फरेब से धोखा देना चाहती हैं। ये कुछ अजीब सी अविश्वसनीय बातें हैं, आप कहेंगे। अविश्वसनीय होनी ही चाहिये क्योंकि हमने योग-बल का अ-आ इ-ई भी तो नही सीखा। स्मरण कीजिये कि आज भी ऐसे आत्म-योगी हैं जिनके सन्मुख आते ही क्रोध से भरे हिंस्र पशु कुत्ता जैसे डोलने लगते हैं तथा हिंस्र मनुष्य स्तब्ध या अवाक् होकर चुप हो जाते हैं। तब फिर सीता जैसी तपस्विनी शान्ति-मूर्ति के सम्पर्क में धधकती आग भी शीतल हो गई हो तो आश्चर्य नहीं।[2] इस प्रसंग के समय तुलसीदास जी ने जो 'श्रीखंड' शब्द कहा है वह उपरोक्त भाव का ही समर्थन करता है।

(६) **विकासात्मक**—मानस में दीर्घकाय तथा वानर-ऋच्छ गृद्ध के रूपों वाले व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। हमें उनके विषय में भ्रम होता है, क्योंकि हम मानवीय विकास-गति की ओर ध्यान नहीं देते।

---

१. ईशा० ३४० १८ का पूर्वार्द्ध

२. सीता जो कितनी पति-भक्ता और शान्त-चित्ता थीं इसे जानने के लिए उक्त घटना का विवरण वाल्मीकि रामायण में पढ़िये

आर्य मध्यएशिया से अथवा कहीं से आये[३] पर यह निश्चय है कि उन्होंने भारत के तत्कालीन वासियों को अनार्य, दस्यु, राक्षस, मलेच्छ आदि नाम दिये। क्यों ? केवल इसलिये नहीं कि वे उनसे घृणा करते थे किन्तु वे उनके समान बौद्धिक एवं आत्म-क्षेत्र में सांस्कृत्य नहीं हो पाये थे। जिस तरह बौद्धिक और आत्म-विकास की गति चलती है, उसी तरह शरीर-विकास भी होता रहा है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो आर्यों तथा अन्य लोगों की आकृति, रूप-रंग, डील डौल, तथा खान-पान सम्बन्धी असमानताओं को देख मानस में वर्णित चरित्रों पर अविश्वास न होगा। आज भी हमको किसी किसी की मुखाकृति बानर जैसी नाक तोता या गृद्ध जैसी, रंग कोयला, जैसा रूप भयंकर राक्षस जैसा देखने में आ जाता है।

(७) **विचित्रात्मक**—कुछ चरित्र मानस में ऐसे भी आये हैं जिनके विषय में जो भ्रम उठते हैं उनका समाधान व्यवहारिक दृष्टि से करना असम्भव सा प्रतीत होता है। उदाहरण स्वरूप कागभुशुंड का बालक राम के मुख में प्रवेश कर सब ब्रह्मांण्डों के दर्शन कर मुख से पुनः बाहर निकल आना, अथवा कल्पान्त तक सुमेरुशिखर पर वास करना एवं गरुड़ादि पक्षियों को मनुष्यवत् राम-कथा सुनाना और उनके द्वारा सुनना, शिव का सदा कैलास पर रहना, हिमालय के पार्वती पुत्री का होना, इत्यादि। ऐसे प्रसंग आने पर यदि कोई व्यवहारिक निर्णय न हो सके तो यह समझकर भ्रम-निवारण करना चाहिये कि कुछ ऐसे भाव हैं जिनका प्रत्यक्षीकरण विशिष्ट अलंकारिक भाषा में परम्परा से चला आ रहा है और उन्हीं अलंकारों को कवि ने अपनाया है।

राम और सीता की समकालीनता पर सन्देह और उसका निराकरण—

अभी तक हमने जो कुछ भ्रम-निराकरण के बारे में व्यवहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहा वह सब निरर्थक ही माना जायगा यदि हम

---

३. **अन्वेषकों में इस सम्बन्ध में मतभेद है।**

इस भ्रम को न निकाल सकें कि राम और सीता समकालीन नहीं थे, जैसा कि मानस मीमांसा के लेखक महोदय ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा है। अपनी इस सम्मति के हेतु उन्होंने अवध और मिथिलापुरी (जनकपुरी) के राजों की वंशावलिया दी हैं। उन्होंने कहा है कि "सीता-राम की समकालीनता की ...जांच के लिए हमें पुराण-वर्णित सूर्य-वंशीय नरपतियों की वंशावली की शरण लेनी पड़ेगी......सूर्यवंशीय राज-घरानों का वर्णन विष्णु पुराण श्रीमद्भागवत आदि महापुराणों तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों में है। ....यहां यह जान लेना चाहिये कि उक्त दोनों व्यक्ति एक ही (सूर्य) वंश की दो भिन्न-भिन्न शाखाओं के आभूषण माने गए हैं। ...इन दोनों शाखा-राजवंशों के समान मूल-पुरुष (Common progenitor) इक्ष्वाकु मनु थे। इक्ष्वाकु के पुत्र थे—विकुक्षि और निमि। विकुक्षि की शाखा अयोध्या में तथा निमि की शाखा जनकपुर (मिथिला) में राज्य करती थी। मैंने सूर्य-वंशीय राजाओं की वंशावली को पूर्वोक्त विविध ग्रन्थों से मिलाकर जो इसका रूप ढूंढ निकाला है..(वह) निम्न लिखित है:—

विकुक्षि-शाखा—(१) इक्ष्वाकु—विकुक्षि (शशाद)—पुरंजय (इंद्रवाह, कुकुत्स्थ)—अनेना—पृथु—विश्वगन्धि—चन्द्र (आर्द्र)—भुवन्ताश्व (प्रथम)—श्रावस्त—बृहदश्व—कुवलयाश्व—दृढ़ाश्व— हर्यश्व (प्रथम)—निकुम्भ—वर्णाश्व (संहृताश्व, बहुलाश्व)—कृशाश्व—सेनजित (प्रसेनजित)—भुवनाश्व (द्वितीय)—मान्धाता—पुरुकुत्स—त्रसद्दस्यु—अनरण्य—पृषदश्व—हर्यश्व (द्वितीय)—अरुण—त्रिबन्धन—सत्यवृत (त्रिशंकु)—हरिश्चन्द्र—रोहित—हरित—चम्प (चञ्चु) सुदेव—विजय—भरूक (रूरुक)—वृक—बाहुक—सगर—असमंजस—अंशुमान—दिलीप (प्रथम)—भगीरथ—श्रुत—नाभ—सिन्धुद्वीप—अयुतायु—ऋतुपर्ण—सर्वकाम—सुदास—सौदास (कल्माषपाद, मित्रसह)—अश्मक—मूलक (नारी कवच)—दशरथ (प्रथम) ऐडविड् (इल्विल)—विश्वसह—खटवांग—दिलीप (द्वितीय वा दीर्घबाहु)—रघु—अज—दशरथ (द्वितीय)—राम = ६० पीढ़ियाँ।

निमिशाखा—(२) इक्ष्वाकु—निमि—मिथिल (जनक, विदेह उदसु—नन्दिवर्द्धन—सुकेतु—देवरात— बृहद्रथ—महावीर्य— सुधृति —धृष्टकेतु—हर्यश्व—मरू (मरूत)—प्रतीप (प्रदीपक)— कृतरथ— देवमीढ़—विश्रुत (विस्तृत)—महाधृति—कृतिरात—महारोमा—स्वर्ण-रोमा—ह्रस्वरोमा—सीरध्वज—सीता = २४ पीढ़ियाँ। उक्त वंशावलियों की पीढ़ी से लेखक का मतलब राज्य काल की अवधि से नहीं है, वरन् जन्म वा जीवन-काल से है। वे इस तरह की पीढ़ी का औसत काल २५ वर्ष का मान कर सीता का जन्म राम के जन्म से ९०० वर्ष पूर्व का मानते हैं, क्योंकि वे राम से ३६ (६०-२४) पीढ़ियां पूर्व उत्पन्न हुई।

यह ठीक है कि विष्णु पुराण सब पुराणों मे पुराना अन्वेषकों द्वारा माना जाता है। राज्य-वंशावालियों की दृष्टि मे श्रीमद्भागवत आदि अन्य पुराण प्रायः उसकी नकल ही हैं। परन्तु विष्णु पुराण की रचना हुए अभी तिलक जी के मतानुसार केवल १७५० वर्ष होते हैं। उन्होंने कहा है कि काल का आरम्भ समय सन् ईस्वी के दूसरे शतक से अधिक अर्वाचीन नहीं "पुराण माना जा सकता।"[४] श्री चि० वि० वैद्य का अनुमान लगभग १८०० वर्ष का है। अब देखिये इस पुराण की रचना राम-काल के कितने बाद हुई होगी।

तिलक ने अन्यपूर्ववर्ती लेखकों के अनुसार विष्णुपुराण की वंशावलियों के आधार मानकर (महाभारत युद्ध का काल ईसा के लगभग १४०० वर्ष पूर्व) कहा है।[५] परन्तु वैद्य ने विष्णु पुराण में दी हुई वंशावलियों को अमान्य सिद्ध कर उस युद्ध का काल ईसा के लगभग ३००० वर्ष पूर्व बताया है।[६] अर्थात् कृष्ण तिलक के मतानुसार आज से लगभग ३४०० (१४०० + १९५८) वर्ष पूर्व और वैद्य के मतानुसार लगभग ५००० (३००० + १९५८) वर्ष

---

४. गीता रहस्य, पृ० ५६५-५६६

५. वही, पृ० ५४८-५४९

६. The mahabharat : A criticism पृ० ७७-७९

पूर्व हुए थे। राम कृष्ण के बहुत पहले हुए थे। उसी विष्णु पुराण में राम के बाद ३२वीं पीढ़ी में बृहद्बल का नाम आया है; और यह बृहद्बल वह था जिसे "भारतीय युद्ध में अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने मारा था।"[७] यदि इन पीढ़ियों का औसत काल भी २५ वर्ष मान लिया जाय तो कृष्ण का काल रामके ३२ × २५=८०० वर्ष पीछे का होता है। अब यदि विष्णु पुराण की यह बात भी मान ली जाती है कि राम ने "सिंहासनारूढ़ होकर ग्यारह हजार वर्ष राज्य-शासन किया"[८] तो राम के लगभग बारह हजार वर्ष बाद कृष्णावतार अथवा महाभारत युद्ध हुआ। परन्तु यह न मानिये तब भी राम और कृष्ण के बीच का समय ८०० वर्ष उक्त आलोचक के गणनानुसार होता ही है। सारांश यह है कि यदि महाभारत युद्ध की घटना का न्यूनतम समय ही मान लिया जाय, जैसा कि तिलक जी ने निर्धारित किया है, तब भी विष्णु पुराण का निर्माणकाल राम-काल के १४००+२००+८००=२४०० वर्ष के बाद ठहरा। इतने वर्ष के बाद लिखे जाने वाले ग्रन्थ में दी हुई वंशावलियां कहां तक मानी जा सकतीं हैं पाठक स्वयं विचारें। तभी तो वैद्य जी ने कहा है कि "हमारी सम्मति में विष्णुपुराण के कथनों का कुछ अधिक मूल्य नहीं है. . . .और हम नहीं समझते कि इससे अधिक पौराणिक काल-क्रमेण-पुरावृत्ति-विवरण (chronology) का मूल्य किया जा सके।"[९] पुराण की रचना हमारी समझमें किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुई। वह अनेक लेखकों की सामूहिक सामग्री को प्रस्तुत करता है। तभी तो उसमें कुछ अजीब अजीब बातों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ इन्हीं वंशावलियों की बात लीजिये हर वंश की उत्पत्ति ब्रह्मादि देव से होना, राम का ग्यारह हजार

७. विष्णु पुराण चतुर्थ अंश (गीता प्रेस का नारद-विष्णु पुराण अंक) पृ० ७२३

८. वही पृ० ७२२

९. चि० वि० वैद्य कृत The Mahabharat. A criticism पृ० ७७-७९

वर्ष राज करना, इक्ष्वाकु के सौ पुत्र होना, राजा सगर के सुमति से साठ हजार पुत्रों का होना, तथा निमि का एक हजार वर्ष में समाप्त होने वाले यज्ञ का करना, इत्यादि। इसी तरह राम के नौ पीढ़ियों पहले आने वाले अवधनरेश मूलक (नारी कवच) की रक्षा परशुराम के आक्रमण से नारियों ने घेर कर की थी, तथा ३८ पीढ़ियों पहले के राजा अनरण्य को रावण ने मारा था, यह उसी विष्णु पुराण का कथन है। ये रावण और परशुराम क्या वे ही थे जिनसे राम की मुठभेड़ हुई थी ? क्या इतनी अधिक पीढ़ियों के बाद राम के जीवन काल तक उनका जीवन सम्भव माना जा सकता है ? फिर आलोचक महोदय को इतनी जोड़-तोड़, गुणा-भाग की आवश्यकता ही क्या थी, जब कि उसी विष्णुपुराण में यह स्पष्ट लिखा है कि राम ने "महादेव जी का धनुष तोड़ा और ....जनक राज-नन्दिनी श्री सीता जी को पत्नी रूप से प्राप्त किया। (तथा) दुष्ट-दलन भगवान राम के कुश और लव नामक दो पुत्र हुए।"[१०] इन बातों को देखते हुए या तो यही कहना पड़ता था कि विष्णु पुराण की वंशावलियां तथा कथन विश्वसनीय नहीं हैं; या राम और सीता का विवाह हुआ इस स्पष्ट कथन ही को स्वीकार करना था। फिर, एक तमाशा यह भी तो देखिये। उक्त लेखक कभी तो वाल्मीकि की साक्ष्य देने लगते हैं और कभी उन्हीं को धोखेबाज कहने लगते हैं। यह देखिये वे कहते हैं कि "महर्षि वाल्मीकि, जो रामायण के रचयिता हैं, राजा दशरथ के परम मित्र थे। वे अवश्य दशरथ की वंशावलि भली भांति जानते थे। अतः वे कभी भी (इधर राम-सीता के विवाह के समय) उनकी एक अशुद्ध वंशावली वसिष्ठ के मुँह से कहलवा सकते थे।"[११] वाल्मीकि दशरथ के मित्र थे, इसलिये वे समकालीन भी थे। वे समकालीन थे और उन्होंने रामायण भी रची। रामायण में उन्होंने स्पष्ट सीता और राम का विवाह होना बताया और सारी राम-कथा लिखी, फिर यह कैसा तर्क कि उनका

---

१०. नारद-विष्णु पुराण अंक (गीताप्रेस) पृ० ७२२

११. मानस मीमांसा, पृ० १०३

विवाह नहीं हुआ, वे समकालीन नहीं थे। जब वसिष्ठ से वंशावली पढ़वाई गई, भले ही वह राजा जनक को धोखे में डालने के लिये झूठी ही रही हो, पर उससे राम-सीता की समकालीनता और विवाह की असत्यता कहां से प्रकट की जाती है!

फिर, आपने किस आधार पर उपरोक्त वंशावलियों से यह अर्थ निकाल लिया कि वे राज्यउत्तराधिकारियों के जीवन-काल की द्योतक हैं, न कि राज्य-काल की, जब कि विष्णुपुराण के चतुर्थ-अंश के आरम्भ में ही मैत्रेय जी पराशर जी से कहते हैं कि "मुझे राज ंशों का विवरण सुनने की इच्छा है, अतः उनका वर्णन कीजिये।" यदि उनके और पराशर जी के वार्तालाप का अभिप्राय राजघरानों के जीवन-काल से होता तो समस्त पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र तथा उनकी सन्ततियों का विवरण आया होता अर्थात् मूल शाखाओं और प्रशाखाओं (collaterals) का उल्लेख मिलता। वहां तो एक के बाद एक केवल राज्यउत्तराधिकारी का नाम आया है, जिससे स्पष्ट है कि वे वंशावलियां राज्य-काल की द्योतक हैं। फिर, राज्यका उत्तराधिकारी हर समय ज्येष्ठ पुत्र ही हुआ हो सो निश्चय नहीं। ज्येष्ठ पुत्र मर गया हो, नालायकी आदि के कारण राज्यगद्दी न पा सका हो, इत्यादि ऐसी कितनी बातें विचारणीय हैं। विष्णुपुराण में केवल इतना ही लिखा है कि अमुक का पुत्र अमुक हुआ। पुत्र वृद्धावस्था के समय गोद लिया हो सकता था; नियोग प्रथा से उत्पन्न हो सकता था। पुत्रेष्टियज्ञ की हवि आदि के द्वारा भी पैदा हो सकता था। फिर पत्नी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र पिता की किस अवस्था में हुआ, लम्बे काल तक राज किया या केवल चार-छै माह के राज्य काल के बाद मर गया या पदच्युत कर दिया, किसी वंश में स्वाभाविकतः दीर्घायु किसी में अल्पायु का होना, किसी समय या देश में शान्ति की प्रचुरता के कारण लम्बा राज्य-काल, किसी में अशान्ति अथवा जल-वायु आदि के कारण अल्प राज्य-काल का होना, ऐसी सैकड़ों वास्तविकतायें होती है जिनपर विचार करने के बाद औसत काल निकाला जा सकता है। श्री रजनीकान्त जी ने औसत-काल निकालने का एक यह दृष्टान्त देकर बताया

है कि इंग्लैंड के बादशाह विजयी विलियम और सम्राट पंचम जार्ज की जन्म-तिथियों के वर्षात्मक अन्तर में व्यतीत पीढ़ी-संख्या का भाग देने से प्रत्येक पीढ़ी की औसत आयु निकल आवेगी। परन्तु इधर न तो जन्मतिथियां ही मालूम और न राज्य-कालीन तिथियां। तब फिर औसत कैसे निकले ?

और भी देखिये, आपने कहीं कहीं एक नाम के दो नाम कर दिये हैं, जैसे चान्द्रयुवनाश्व को चन्द्र और युवमाश्व दो भिन्न व्यक्ति लिखे हैं। इसी तरह चम्प (चञ्चु) के बाद सुदेव का नाम ठूंस दिया है। सुदेव (वसुदेव) चच्चु का दूसरा पुत्र था जो राजा नहीं हुआ।[१२] इससे अवध-वंशावली की पीढ़ियां बढ़ जाती हैं। गरज़ यह है कि जब विष्णु पुराण तथा वाल्मीकि रामायण स्वय राम और सीता की समकालीनता, उनका विवाह और सन्तान होना खुले शब्दों में कह रहे हैं तो यह पीढ़ी की बात निकाल कर व्यर्थ पन्ने रंगे गये। राम की ६०वीं पीढ़ी और सीता की २४वीं पीढ़ी का यदि मेल और बैठालना ही है तो आइये हम बतायें।

यदि विष्णु पुराण में कथित घटनायें सत्य हैं और यदि परशुराम और रावण नाम के दो दो व्यक्ति नहीं हुए, तो यह निश्चय है कि अवध का राज्य बहुत दिनों से अशक्त हो रहा था तभी तो परशुराम और रावण ने राम के बहुत पहले से उस पर आक्रमण कर दिये थे। बीच बीच में किसी राजा ने स्थिति सुधारने का अवश्य प्रयत्न किया, परन्तु फिर भी राज्य-शैथिल्य नहीं मिटा। इसीलिये राजा दशरथ, जिन्हें स्वयं लड़ाई में कैकेयी की सहायता लेनी पड़ी थी, निर्बलता के कारण रावण वा राक्षसों का नाम सुनकर विश्वामित्र के सामने उस समय अतिशय घबड़ा रहे थे जब उन्होंने राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले जाना चाहा था। परशुराम से तो राम द्वारा धनुष-भंग किये जाने के बाद विश्वामित्र जी ने संधि करा दी थी। पर रावण का रिपुपन नहीं मिटा था। इसीलिये सम्भव है लक्ष्मण ने अरण्य

---

१२. यह हम विष्णु पुराण में दी हुई वंशावली के आधार पर ही कह रहे हैं।

में सूर्पणखा को देख 'रिपु-वहिनी' कहा हो। राजा अनरण्य इक्ष्वाकु के बाद २२वीं पीढ़ी में आता है। वह रावण से मारा जाता है। उसके बाद की ३८ पीढ़ियों के काल में राज्य-व्यवस्था इतनी शोचनीय रही होगी कि वे शीघ्र ही समाप्त होती गई होंगी। विकुक्षि शाखा और निमि शाखा की प्रथम २२ पीढ़ियां, सम्भव है प्राय: समान काल तक आसनारूढ़ रही होंगी, और उसके बाद की ३८ पीढ़ियां, सम्भव है, निमिशाखा की अन्तिम दो पीढ़ियों के काल में ही समाप्त हो गई हों। ऐसी बात यदि सच मान ली जाय तो अवध राज्य की ६० (२२+३८) पीढ़ियां मिथिला राज्य की २४ पीढ़ियों के बराबर हो जाती हैं। परन्तु इस तर्क में हमें स्वयं अत्यातिशयोक्ति प्रतीत होती है। सच बात यह है कि तत्कालीन वंशावलियों को जानने के लिये न तो मानस मीमांसा के विद्वान लेखक के पास और न हमारे पास कोई स्वतंत्र प्रामाणिक साधन है। और न मिलना ही सम्भव है। हमें केवल उक्त महोदय की उन्हीं तर्कों को निराधार बताने की आवश्यकता थी जिनका आश्रय ले उन्होंने राम-कथा को काल्पनिक सिद्ध करना चाहा है। राम-सीता की वास्तविकता तथा समकालीनता के विषय में उन्हीं ग्रन्थों के स्पष्ट वचनों के आधार पर कोई सन्देह रह ही नहीं सकता, जिनके आधार को लेकर उक्त महोदय चल पड़े।

काल्पनिक आदर्श का महत्व—परन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि राम और सीता काल्पनिक हैं तब भी वाल्मीकि रामायण का और मानस का लोकहितैषिता की दृष्टि से किसी भी प्रकार न्यून नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके जीवन चरित्र में मानवता की वह जीती-जागती तसवीर उतारी गई है कि कोई भी विचारवान पाठक उस पर काल्पनिकता का दोष लगाने में हिचकेगा। मानव मात्र उनके आदर्श चिन्हों पर चल लोक और परलोक दोनों को एक साथ साध सकता है।

: ८ :

तुलसी की पूर्ववर्ती और समसामयिक परिस्थितियाँ

ऐतिहासिक घटनाओं का विहंगावलोकन :—

अभी तक हमने अपना समय तुलसी सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रारम्भिक सिद्धान्तों को समझने में लगाया जिनके जाने बिना तुलसी की क्रान्ति का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। अब हमें प्रत्यक्ष क्षेत्र में आकर उनके समय की परिस्थितियों का अवलोकन करना चाहिये ताकि उनकी क्रान्तिकारी योजना यथाविधि समझ में आ जावे। अतः अब हमें इस अध्याय में इतिहास के भीतर पहुँचकर संक्षिप्ततः यह देखना होगा कि तुलसी के समय वा उनके पूर्व में देश वा समाज की क्या गति-विधि थी जिससे वे प्रभावित हुए।

तुलसी का जन्म सन् १५३२ में हुआ और रामचरितमानस की रचना सन् १५७५ (सं० १६३१) में प्रारम्भ हुई यह पहले कहा जा चुका है। यह समय था मुगल बादशाहों हुमायूँ और अकबर का।

(अ) वैदिक काल से मुसलमानी आक्रमण के प्रारम्भ तक :—

आधुनिक इतिहासकारों के मतानुसार भारतवर्ष के इतिहास का पता लगभग सातवीं शताब्दी ईसा-पूर्व के पहले का नहीं चलता, हालांकि वे यह भी मानते हैं कि कट्टर हिन्दू (orthhdox Hindu) की दृष्टि में वह ईसा के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व से उस समय से चला आ रहा है जबकि कौरवों-पांडवों तथा राम-रावण का युद्ध हुआ, जिनका उल्लेख महाभारत और रामायण में किया गया है।[1] इसका यह अर्थ नहीं कि वे इसके पूर्व के

१. Imperial Gazetteer vol ii p. 270-271

वैदिक कालीन जोवन का अस्तित्व हो स्वीकार नहीं करते। महाभारत और रामायण के अतिरिक्त पुराण, एक हिन्दू के लिये, प्राचीन भारत के इतिहास के भण्डारों का ही काम करते हैं। तुलसी ने उक्त ग्रथों का अध्ययन किया और उनमें लिखित कथावार्त्ताओं पर उनकी श्रद्धा भी थी, इसमें किसी को सन्देह करने की गुन्जाइश नहीं है। परिणाम यह हुआ कि उन्हें न केवल सैकड़ों राजा महाराजाओं के बल्कि सैकड़ों अन्य आदर्श पुरुष-स्त्रियों के दृष्टान्त पढ़ने में आये। इसलिये उन्होंने मानव-जीवन का आदर्श उसी प्रकार परमोच्च नीति और धर्ममय बना रखा था जैसा कि उक्त ग्रन्थों में तथा अन्य (क्वचित अन्यतोपि) ग्रन्थों में देखने को मिला।

पौराणिक वृत्तान्तों की बात जाने दीजिये और प्राचीन इतिहास-काल पर आ जाइये, तो मालूम होगा कि ईसा के कुछ शताब्दियों पूर्व भारत में अहिंसा के अद्वितीय प्रवर्त्तक पहले जैन और फिर बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति हुई। जब किसी नवीन धर्म-मत का आविर्भाव होता है तो उसके नाम पर उसके अनुयायियों में पर्याप्त स्फूर्ति दिखाई देती है। इसी तरह भारतीय जीवन पर जैन और बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव पड़ा, यहाँ तक कि कई राजा महाराजाओं ने उनके सिद्धान्तों के प्रभाव में आकर अपने अपने राज्यों का कार्यभार प्रजा-वात्सल्य, सुनीति और धर्म-परायणता से चलाया उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और हर्षवर्धन के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् ३०६ ई० के पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में यूनानी मेगस्थनीज के, सन् ४०६-४११ ई० में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के विषय में चीनीयात्री फाह्यान (Fa-Hien) के तथा सन् ६४३ ई० में हर्ष के बारे में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग (Hiuen Tsiang) के लेखों में तत्कालीन व्यवस्थाओं तथा जीवनजन की स्थितियों पर काफी प्रकाश पड़ता है। फाह्यान लिखते हैं कि उन्हें प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र में तथा उसके निकटवर्त्ती स्थानों में ऐसा प्रतीत हुआ कि (मानो वहां की जनता में उदारता और सद्‌गुण बर्तने में पारस्परिक होड़ मची रहती हो' (Vie with one another in the practice of henevobuce

and virtue)....राज्य-व्यवस्था सौम्य और न्यायपरायण (mild and equifadle) थी। प्रजा न तो पुलिस के कानून कायदों से दुखित थी और न प्रत्यक्ष करों से, और न उसे यात्रासम्बन्धी स्वातंत्र्य में कोई बाधा थी। अपराध के लिये कठोर दण्ड नहीं रहता था पर हिंसात्मक उपद्रव वा डकैती के लिये दाहिना हाथ काट डाला जाने का दण्ड अवश्य था। मांसादि का खाना तथा मदिरादि मादक पदार्थों का पीना निषेध था, इसलिये मांसमदिरादि के विक्रेता कहीं नही दिखाई देते थे।'[२] ह्वेनत्सांग ने सम्राट हर्ष के विषय में यह लिखा है कि वह हर पांचवें वर्ष कन्नौज, प्रयाग आदि जैसे प्रमुख स्थानों में 'मोक्ष' नाम का समागम (सभा) किया करता था, जिसमें लाखों आदमी एकत्र होते थे। सन् ६४४ में प्रयाग में जो समागम हुआ था उस समय वहां पर ह्वेनसांग भी उपस्थित था। समागम के समय वहां पर राज्य की ओर से सत्तर दिन तक सभी धर्म के पवित्र लोगों को खुले हाथ दान दिया गया, यहाँ तक कि राजा ने अपने हीरा-जवाहरात आदि सभी मूल्यवान् पदार्थ दे डाले। राज्य-व्यवस्था बनाये रखने के लिये जो घोड़े हाथी और सैनिक शस्त्रादि की आवश्यकता रहती है केवल उन्हीं को छोड़कर राजा ने प्रायः उस सारे द्रव्य का वितरण कर दिया जो गत पांच वर्षों में एकत्र किया गया था।[३]

परन्तु समय ने पल्टा खाया। सम्राट हर्ष की सन् ६४६ या ६४७में मृत्यु हुई।[४] उसकी मृत्यु होने के बाद उसका विस्तृत राज्य कई खंडों में

२.Imperial Gazetter vol II p. २९२-२९३ में उद्धरित लेख के आधार पर।

३. वही पृ० २९७ पर उद्धरित लेख के आधार पर

४. डा० ईश्वरी प्रसाद की History of India (संस्करण सन् १९३९)पृ० १६३ पर हर्ष की मृत्यु होने का समय सन ६४६ या ४७ दिया है परन्तु डा० राजपति दीक्षित ने अपने ग्रंथ 'तुलसीदास और उनका युग, (संस्करण सं० २००९)के पृष्ठ २४ पर हर्ष की मृत्यु सन् ७०४ में बताई है।

विभक्त हो गया, जिन पर छोटे-छोटे राजा स्वतंत्र रूप से राज्य करने लगे। वे लोग पारस्परिक ईर्ष्या वा द्वेष के कारण आपस में लड़ने भिड़ने लगे जिससे स्वाभाविकतः प्रजा को भी कष्ट हुए। परन्तु वह एक ही घर में उत्पन्न तथा एक ही प्रकार की संस्कृति में पले-पोसे लोगों की एक प्रकार की आपसी कलह थी इसलिये दूषित होते हुए भी वह असह्य नहीं हो पाई थी। पर आपसी फूट ही जो ठहरी! वह कहाँ तक अहित को रोक सकती थी। इस फूट का लाभ उठाकर अरब की ओर से मुहम्मद के द्वारा चलाये गये नवीन पन्थ 'इसलाम' के अनुयायियों ने भारत पर लगभग सन ७१२ ई० से आक्रमण प्रारम्भ कर दिये यद्यपि उसके पूर्व भी हर्षवर्धन के राज्यकाल के समय मुहम्मद की मृत्यु सन ६३२ के चार-पांच वर्ष बाद ही सन ६३६-३७ में उन लोगों ने समुद्र के रास्ते से दो छोटे छोटे असफल आक्रमण कर डाले थे।

मुसलमानी आक्रमणों के पूर्व भारत की क्या स्थिति थी, इसके दिग्दर्शन के हेतु इम्पीरियल गजिटियर (भाग २) के विद्वान लेखक के निम्न-कथन को पढ़ लीजिये। उन्होंने कहा है कि

"गत अध्यायों के पढ़ने से ज्ञात हुआ होगा कि सातवीं शताब्दी में तथा उसके पूर्व की कई पीढ़ियों तक, भारत की खुली समभूमि और नदियों की घाटियों पर उस जनसमुदाय का अधिकार था जो वहां का स्थिर रूप से वासी हो गया था, जो कृषि तथा अन्य कलाओं (व्यवसाय) में लगी रहती थी, जिसका साहित्य भरपूर था, जिसका तात्विक ज्ञान परिशुद्ध था और जिसकी धार्मिक धारणायें पूर्णरूपेण संबन्धित थी; और समाज व्यवस्था उसकी अद्वितीय थी जो उसी भू-भाग पर क्रमशः परिवर्धित होती गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से आक्रमणकारी एक के बाद एक—ग्रीक (यूनानी), पार्थियन, सिथियन और हूण लोग—उत्तर पश्चिमी घाटियों में से होते हुए भारत में घुस आये थे, परन्तु उनमें से सब या तो अपने अपने देशों को लौट गये या शीघ्रता से वहीं की जनता में घुल-मिल गये और अपनी उपस्थिति के कुछ निर्दिष्ट चिन्ह छोड़ गये।" परन्तु इसके उपरांत लेखक महोदय का कथन है कि, "इसलाम का रवैया कुछ और ही था;

पश्चिम तरफ से उसका वेग (preswe) लगातार बढ़ता ही आया और इन आक्रमणकारियों तथा यहां के प्राचीन निवासियों के धर्म-मतों में विशिष्ट रूप से भिन्नता होने के कारण अत्यन्त गंभीर तथा चिरस्थायी परिणाम उत्पन्न हुए।.....उसके प्रणेता (मुहम्मद) की मृत्यु के पूर्व से ही इसलाम युद्ध-प्रवृत्त (militant) मत हो गया था; और उसके तात्कालिक (immediate) उत्तराधिकारियों के आधीन में ही वह राजनैतिक विजय का अधिक नहीं, तो उतना ही भारी साधन बन गया था जितना कि वह राष्ट्रों के धर्म-परिवर्तन कराने में सफल हुआ। थोड़े ही वर्षों में सीरिया, इजिप्ट और परशिया (ईरान) को नवराज्याधिपतियों के सन्मुख घुटने टेक देने पड़े और परवश नवधर्म को भी स्वीकार करना पड़ा।"[५]

(ब) मुसलमानी आक्रमण काल से तुलसीकाल तक :—

इस तरह आठवीं शताब्दी से लेकर तुलसी के समय तक भारत के इतिहास में लगभग ९०० वर्ष का एक लम्बा दुष्परिणामी युग चला, जिसकी करुणाजनक और हृदय-विदारक कहानी तुलसी की कौन कहे किसी भी सहृदय मनुष्य की आंखों में आंसू लाने के लिये पर्याप्त है। इस काल के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) आक्रमणकाल (७१२-१२०६), (२) स्थापित राज्यकाल (१२०६-१५२६), और (३) मुग़ल शासन-काल (सन् १५२६ से प्रारंभ)

आक्रमणकाल में सबसे पहले खलीफा के अधीनस्थ अरबों का हमला सन् ७१२ में हुआ जिन्होंने सिन्ध के राजा दाहिर को मार उसका राज छीन लिया और मुलतान तक पहुँच गये। फिर उन तुर्कों के हमले हुए जिन्होंने अफ़गानिस्तान में अपनी राजधानियां बना ली थीं। इनमें से पहले पहल गजनी के महमूद गज़नवी ने सन् १००० और १०२६ के बीच में हिन्दुस्तान

५. Imperial guzetter, vol II, पृ० ३५०

पर १७ बार चढ़ाई की। वह सन् १०३० में मर गया। उसके बाद एक पहाड़ी किला 'गोर' का मुहम्मद गोरी सात बार चढ़ आया और अन्त की चढ़ाई के समय सन् १२०६ में सिन्ध नदी के तीर पर गक्कार लोगों द्वारा मार डाला गया।

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद हिन्दुस्तान में नियुक्त किये गए उसके एक गुलाम सरदार ऐबक (Aybak) ने हिन्दुस्तान में ही राजधानी बनाकर राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। "मुहम्मद गोरी का वाइसराय (viceroy) ऐबक उन चौंतीस मुसलमान राजाओं में से सर्वप्रथम है जिन्होंने दिल्ली पर तेरहवीं शताब्दी से लेकर सन् १५२६ तक, जबकि बाबर ने आक्रमण किया, राज्य किया। ये ३४ राजा क्रमानुगत पांच राजवंशों में विभक्त होते हैं। पहले हैं ग़ुलाम राजा, जो गोरी के गुलाम ऐबक या ऐबक के गुलामों के वंशज हैं—ये सब तुर्की के। इनके पश्चात् खिलजी आये। ये संभवतः आदि में तुर्की थे, पर आचार-विचार में प्रधानतः अफ़गानी थे। तीसरा था तुर्की घराने का तुग़लक। परन्तु तैमूर के सन् १३९८ में हिन्दुस्तान पर चढ़ आने के कारण तुग़लकों के राज्य का अंत हो गया। इसके बाद सैयदों (सभ्यों) ने, जो हिन्दुस्तान के ही निवासी थे, परन्तु अपने आपको पैग़म्बर मुहम्मद के कुटुम्ब के अरबी वंशज कहते थे—राजधानी पर अधिकार कर लिया। पांचवां राजवंश था अफ़गानी लोदियों का, जिन्होंने राज्य के बचे-खुचे भाग पर उस समय तक राज किया जब बाबर ने उन्हें पानीपत की लड़ाई में हराकर विजय प्राप्त की।"[६]

सन् १५२६ की पानीपत की लड़ाई में अफ़गानों को तथा सन् १५२७ की कनवाहा की लड़ाई में राजपूतों को हराकर बाबर ने मुग़ल-राज्य स्थापित कर दिया और सन् १५३० में मर गया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका लड़का हुमायूं राजगद्दी पर बैठा, परन्तु हुमायूं को राज्य चलाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आखिर उसे सन् १५४० में राजगद्दी

६. Lane poole's Mediaeval India, पृ० ५९-६०